

UNIVERSAL
LIBRARY

OU_180654

UNIVERSAL
LIBRARY

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. H81.6
D58R

Accession No. P. G. H 47

Author दिनकर .

Title रसवन्ती . 1946 .

This book should be returned on or before the date
last marked below.

रसवन्ती

रचयिता
श्री रामधारी सिंह दिनकर

उदयाचल पटना

दो रुपये आठ आने

Publisher
R. Sinha

(सर्वाधिकार लेखक के अधीन)

P. G.

प्रथम संस्करण, अगस्त, १९४०

द्वितीय संस्करण, अगस्त, १९४४

तृतीय संस्करण, दिसम्बर, १९४६

मुद्रक—

रामेश्वर सिंह

ओरियन्ट प्रेस, पटना

सूखे विटप की सारिके !

उजड़ी—कटीली डार से
मैं देखता किस प्यार से,
पहना नवल पुष्पाभरण
चूण, तरु, लता, वनराजि को,
हैं जा रहे विहसितवदन
ऋतुराज मेरे द्वार से ।

❀ ❀ ❀

मुझमें जलन है, प्यास है,
रस का नहीं आभास है,
यह देख हँसती बल्लरी,
हँसता निखिल आकाश है;
जग तो समझता है यही,
पाषाण में कुछ रस नहीं,
पर, गिरि-हृदय में क्या न
व्याकुल निर्भरों का वास है ?

❀ ❀ ❀

(२)

बाकी अभी रसनाद हो ,
पिछली कथा कुछ याद हो ,
तो कूक पंचम तान में ,
संजीवनी भर गान में ,
सूखे विटप की डार को
कर दे हरी करुणामयी ;
पढ़ दे ऋचा पीयूष की,
उग जाय फिर कोंपल नयी ;

जीवन-गगन के दाह में
उड़ चल सजल नीहारिके !

सूखे विटप की सारिके !

—:०:—

विषय-सूची

सूखे विटप की सारिके	...	...	३—४
भूमिका	...	...	५—१६
आशीर्वचन क दो मंगलमयि	...	...	१६—२०
१. रसवन्ती	...	...	१
२. गीत-अगीत	...	...	११
३. बालिका से बधू	...	...	१३
४. प्रीति	...	...	१८
५. दाह की कोयल	...	...	२०
६. नारी	...	...	२४
७. अगुरु-धूम	...	...	२६
८. रास की मुरली	...	...	३५
९. मानवती	...	...	४०
१०. नारी	...	...	४४
११. पुरुष-प्रिया	...	...	५०
१२. गीत	...	...	५६
१३. अन्तर्वासिनी	...	...	६०
१४. पावस-गीत	...	...	६२
१५. कत्तिन का गीत	...	...	६३
१६. मरण	...	...	६४
१७. समय	...	...	६६
१८. आश्वासन	...	...	६७

[ल]

१६.	कवि	...	...	६६
२०.	कालिदास	...	...	७७
२१.	विजन में	...	...	८०
२२.	प्रभाती	...	...	८२
२३.	संध्या	...	...	८४
२४.	अगेय की ओर	...	...	८८
२५.	सावन में	...	...	९१
२६.	भ्रमरी	...	...	९३
२७.	रहस्य	...	...	९४
२८.	संबल	...	...	९५
२९.	प्रतीक्षा	...	...	९७
३०.	शेष गान	...	...	९९

आशीर्वचन कहो मंगलमयि, गायन चले हृदय से ;
दूर्वासन दो अवनि, किरण मृदु, उतरो नील - निलय से ।
बड़े यत्न से जिन्हें छिपाया ये वे मुकुल हमारे ,
जो अबतक बच रहे किसी विधि ध्वंसक दृष्ट - प्रलय से ।

ये अबोध कल्पक के शिशु क्या रीति जगत की जानें ;
कुछ फूटे रोमाञ्च - पुलक से, कुछ अस्फुट विस्मय से ।
निज मधु - चक्र निचोड़ लगन से पाला इन्हें हृदय ने ,
बड़े नाज से, बड़ी साध से, ममता, मोह ग्रण्य से ।

चुन अपरूप विभूति सृष्टि की मैंने रूप सँवारा ,
उड़ से द्युति, गति बाल - लहर से, सौरभ रुचिर मलय से ।
सोते - जगते मृदुल स्वप्न में सदा किलकते आये ,
नहीं उतारा कभी अङ्क से कठिन भूमि के भय . से ।

नन्हें अरुण चरण ये कोमल, क्षिति की परुष प्रकृति है ;
मुझे सोच, पड़ जाय कहीं पाला न कुलिश निर्दय से ।
अर्जित किया ज्ञान कब इनने, जीवन का दुख मेला ?
अभी अबोध ये खेल रहे थे रजकण के संचय से ।

सीख न पाये रेणु - रत्न का भेद अभी ये भोले ,
मुट्ठी भर मिट्टी बदलेंगे कञ्चन - रचित बलय से ।

कुछ न सीख पाये, तो भी रुक सके न पुण्य - प्रहर में ,
घुटनों-बल चल पड़े, पुकारा तुमने देवालय से ।

रुन - भुन - भुन पैजनी चरण में, केश कुटिल घुँघराले ,
नील नयन देखो माँ ! इनके दाँत धुले हैं पय से ।
देख रहे अति चकित रत्न - मणियों के हार तुम्हारे,
विस्फारित निज नील नयन से, कौतुक - भरे हृदय से ।

कुछ विस्मय, कुछ शील दृगों में, अभिलाषा कुछ मन में ,
पर, न खोल पाते मुख लज्जित प्रथम - प्रथम परिचय से ।
निपुण गायकों की रानी, इनकी भी एक कथा है ;
सुन लो, क्या कहने आये हैं ये तुतली - सी लय से ।

छूकर भाल वरद कर से , मुख चूम विदा दो इनको ;
आशिष दो ये सरल गीत - शिशु विचरें अजर - अजय-से ।
दिशि - दिशि विविध प्रलोभन जग में, मुझे चाह बस इतनी,
कभी निनादित द्वार तुम्हारा हो इनकी जयजय से ।



भूमिका

‘रेणुका’ और ‘हुङ्कार’ के विपरीत ‘रसवन्ती’ की रचना निरुद्देश्य प्रसन्नता से हुई है और इसमें किसी निश्चित संदेश का अभाव-सा है। इन गीतों में, मैं अपने हाथ से छूट-सा गया हूँ और प्रायः अकर्मण्य आलसी की भाँति उस प्रगल्भ अप्सरा के पीछे-पीछे भटकता फिरा हूँ जिसे कल्पना कहते हैं।

रहे फिर तब से अनु-अनु देवि,
लुब्ध भिक्षुक-से मेरे गान ।

इस अलस-भ्रमण में कुछ मेरे हाथ भी लगा या नहीं यह तो याद नहीं है, हाँ, यात्रा सुखद रही। तो भी इन गीतों में जीवन के जो प्रतिविम्ब उग आये हैं, वे सीधे नहीं आ सके। उनका प्रतिफलन तिर्यक अथवा वक्र रहा है। सीधा इसलिए नहीं, चूँकि चित्र लेते समय मैं तटस्थ नहीं रह सका और दृश्यों के साथ तत्सम्बन्धी अपनी निजी भावनाओं को भी अंकित कर गया। मिट्टी की गन्ध हवा में भर गई। आदर्श में नग्न उँगलियों के धब्बे लग गये। तृषित जीव के चुम्बन से स्वप्न सिहर उठा। कुशल हुई कि फूलों को सिर्फ छूकर छोड़ दिया और चाँदनी का पोस्टमार्टम नहीं किया, नहीं तो आर्टवाले न जानें आज क्या कर बैठते ! अस्तु।

संभव है, अपने अर्थ में मुझे प्रगतिशील समझनेवाले कुछ पाठक ‘रसवन्ती’ से निराश भी हों। उनके आश्वासन के लिए मैं निवेदन करूँगा कि दिन-भर सूर्य के ताप में जलनेवाले पहाड़ के हृदय में भी, चाँदनी की शीतलता को पाकर, कभी-कभी बाँसुरी का-सा कोई अस्पष्ट स्वर गूँजने लगता है, जो पत्थर की छाती को फोड़कर किसी जल-धारा के बह जाने की आकुलता का नाद है। रसवन्ती को मैं ‘कुरूप पर्वत की बाँसुरी’ कहना चाहता था, लेकिन, है यह ‘दाह की कोयल’ और ‘धूप में उड़नेवाली एक बूद शबनम’ !

इसके सिवा प्रगति का जो अर्थ मैं समझ सका हूँ वह साम्यवाद नहीं, बल्कि नवीनता का पर्याय है और उसके दायरे में उन सभी लेखकों का स्थान है जो चर्चित-चर्चण, पुरातन-विजृम्भन और गतानुगतिक्ता के खिलाफ हैं। वे

सभी लेखक प्रगतिशील हैं, जो किसी प्रकार भी अनुकरणशील नहीं कहे जा सकते। प्रगति का प्रतिलोम युगविमुखता नहीं, बल्कि गति-विमुखता अथवा अग्रगति है।

संघ कायम करने अथवा आन्दोलन चलाने से साहित्य में प्रगतिशीलता नहीं आती, प्रत्युत, यह उसका सनातन गुण है और इसे छोड़कर वह जो नहीं सकता। सार्थक साहित्य हमेशा प्रगतिकामी ही हुआ करता है। साहित्य में प्राचीन शैलियों की आवृत्ति किसी भी युग में आदर नहीं पा सकती और अनुकरण-कर्ताओं को कभी भी स्रष्टा का पद नहीं मिला। (साहित्य की यात्रा में सदैव वे ही पूजनीय माने गये हैं जिनका पन्थ प्राचीन अथवा समकालीन यात्रियों से किंचित् भिन्न, कुछ नवीन, अतः, प्रगति की ओर था।)

आजकल जिस रीयलिज्म की, साँस-साँस पर दुहाई दी जा रही है वह कोई नया अनुसन्धान नहीं है। साहित्य के तत्व जीवन से आते हैं और उद्भिजों की भाँति वे भी निम्न-स्तर से ही ऊपर को उठते हैं। सभी युगों में प्रगतिशील अर्थात् सार्थक साहित्य का मूलाधार वास्तविकता रही है, किन्तु यह वास्तविकता केवल स्थूल ही नहीं, सूक्ष्म भी होती है। स्थूल दृष्टि से जो समीप है वह सत्य और जो दूर है वह असत्य, इस भद्दी कसौटी पर वास्तविकता की परीक्षा करना अव्याप्ति के दोष में पड़ना है, क्योंकि कल्पक के मनोदेश का नन्दनवन उतना ही सत्य है जितना पुतलीघरों का रत्न वातावरण और उनके कल-पुर्जे। 'आँख मूँदने पर हमारे मन की अलकापुरी पास के ताड़ीखाने से अधिक सत्य हो उठती है।' कल्पक को अपनी कल्पना की मूर्तियाँ सबसे अधिक प्रिय इसी-लिए होती हैं चूँकि उनसे बोलने पर वह सत्य के निकटतम की वार्त्ता सुन पाता है। सच तो यह है कि पृथ्वी और आकाश दोनों सत्य हैं और हम जब जहाँ रहते हैं तब वहीं की सत्यता प्रखर हो उठती है। वस्तु और आदर्श को लेकर संसार-भर में आज जो आन्दोलन चल रहे हैं वे विवाद की स्वाभाविक सहचरियों—अत्युक्ति और कटुता—के कारण सत्य के समीप नहीं आ रहे हैं, नहीं तो हमें यह कब को ही मालूम हो गया होता कि वास्तविक और आदर्श के नाम से साहित्य के अन्दर हम जो विभाजन करना चाहते हैं, दर-असल, वह भेद अनुभूति का है। तीव्र अनुभूति, मार्मिक भावाकुलता और सच्ची प्रसन्नता से लिखी हुई काल्पनिक कथाएँ अत्यन्त वास्तविक हैं, क्योंकि हम उनमें जलते जीव का ताप पाते हैं; क्योंकि कल्पना का आधार लेकर उनमें जीवित कवि के प्राण और उसके दह्यमान हृदय की ऊष्मा प्रवाहित हो रही है; और केवल भाड़े पर लिखी हुई चीजें, रोटी का राग और साम्यवाद के गीत बिलकुल असत्य हैं,

क्योंकि उनमें अनुभूति का दाह नहीं है, क्योंकि वे बिलकुल समय की फरमा-
इश पर नाचने को आई हैं। साहित्य की सबसे बड़ी प्रचंड और अद्भुत शक्ति
अनुभूति है जिसके आलोक में पड़कर वस्तु आदर्श और आदर्श सत्य हो जाता
है। मनुष्य का अनुभूतिशील हृदय ही कविता के जन्म और उसके विहार की
भूमि है। हृदय की सच्चाई से काव्य में तेज और सौन्दर्य प्रकट होता है, कल्पना
से नहीं; क्योंकि वह तो उस भूमि का वायुमंडल है; परियों, देवदूतों और नन्दन-
कानन से नहीं, क्योंकि वे तो उस वायुमंडल के कीटाणु हैं। जिस लेखक ने
रंश की पीड़ा का अनभव किया है, जिसकी रचनाएँ अपरिहार्य हैं—जो इसलिये
लेखता है चूँकि लिखे बिना उसे कल नहीं और लिखने पर कल पड़ती है,
हलम पकड़ने पर तीनों काल जिसके ध्यान में हृदय खोलकर खड़े हो जाते हैं,
उल्लेख में, जो अपने और अपनी कला के प्रति ईमानदार है उसे यह सोचने की
जरूरत नहीं है कि लोग उसे प्रगतिकामी कहेंगे या कुछ और; क्योंकि जो कुछ
वह लिख रहा है वही वस्तु है, वही आदर्श है, और प्रगतिशील चाहे वह हो
या न हो, लेकिन एकमात्र वही सार्थक साहित्य है जो आज जीवित आया है
और आगे भी जीवित रहेगा।

साहित्य को अत्यन्त संकीर्ण अर्थ में प्रगतिकामी कहकर जो लोग उसे
राजनीति का रणवाद्य बना देना चाहते हैं वे इस बात को भूल जाते हैं कि रुपये
और साहित्य में अविच्छिन्न संबंध नहीं है। अभिजातीय कहकर हम जिस
सामाजिक वर्ग-गुण के प्रति द्वेष और घृणा प्रकट करते हैं, साहित्य में उसका
प्रयोग सुन्दरता और परिमार्जन का द्योतक है। वर्गहीन समाज की स्थापना
का प्रयत्न धन की तामसिक प्रभुता की प्रतिक्रिया का परिणाम है, किन्तु साहित्य
मनुष्य की व्यापक और नित्य-अनित्य सभी प्रकार की भावनाओं का गुम्फन है।
मनुष्य की सर्वांगीण स्वाधीनता के आदर्श के शत्रु, शोषक अभिजातीय
वर्ग के प्रति रोषपूर्ण उक्ति भी साहित्य हो सकती है, लेकिन एकमात्र वही
प्रगतिशील नहीं है। धन पर रोष करके मनुष्य समाज की रचना को बदल दे
सकता है, लेकिन अपनी सनातन भावनाओं का त्याग नहीं कर सकता। माना
क संवर्ष की ज्वाला में कुछ दिनों तक साहित्य की कोमल वृत्तियों की आहु-
तियाँ पड़ती रहें, किन्तु जब ज्वाला शान्त हो जायगी और समाज में वर्गहीनता
का विधान कर दिया जायगा तब भी मनुष्य अपनी उन भावनाओं का सदैव के
लिए त्याग करके कैसे बैठ जायगा जो उसकी जन्मजात सम्पत्ति हैं? क्या
वर्गहीन समाज के लोग प्रेम और विरह, तृष्णा और वासना, राग और मोह,
रूप के वाण और आध्यात्मिक चिन्ताओं से परे हो जायेंगे? स्निहवर्न और

शैली ने ईश्वर को नहीं मानते हुए भी पारलौकिक बातें की हैं, देवताओं की प्रशस्तियाँ गाई हैं भार बराबर मनुष्यों को इहलौकिक मलों से ऊपर उठने की प्रेरणा दी है। सच तो यह है कि आध्यात्मिक चिन्ता और विकास की कल्पना मानव-जाति की उन्नति का मेरुदंड रही है। मनुष्य का विकास मिट्टी से शून्य की ओर देखते-देखते हुआ है। अध्यात्म कुछ नहीं होकर भी मनुष्य को ऊपर उठाने में, उसकी पशुता को नष्ट करने में सहायक हुआ है। राजनीतिक आन्दोलनों की रण-भेरी बनकर साहित्य जीवित रह सकेगा या नहीं, यह विषय चिन्त्य है। साम्यवाद ने साहित्य को प्रचार के रूप में ग्रहण किया था, लेकिन समाजवादी रूस को यह शांघर्ष ही मालूम हो गया कि प्रचार-साहित्य और सच्चे साहित्य में बहुत अन्तर है।

मनुष्य के नाते कवि का भी यह धर्म है कि वह मिट्टी के प्रति अपना दायित्व निभाये, युद्ध के बातावरण में अपना सीना खोले और प्रहारों के आदान प्रदान में भाग ले; लेकिन, कवि के नाते उसका यह भी कर्त्तव्य है कि वह अपनी कोमल भावनाओं की, कैद में, हत्या नहीं करे—वे भावनाएँ जो युद्ध के वायुमण्डल में, गोलियों की वर्षा के बीच सिपाही के दिल में माता की सुधि, प्रिया और बच्चों की स्मृति तथा धुँएँ से दूर दूब और फूलों की याद बनकर खिलती हैं। हाँ, हम अधिक-से-अधिक इतना कह सकते हैं कि वह उस प्रकार लिखे जिससे यह मालूम हो जाय कि जब वह कविता कर रहा था तब उसके कक्ष के बाहर बम गरज रहे थे, बड़े-बड़े युग प्रवर्त्तक आन्दोलन चल रहे थे तथा वह जिनके लिये लिख रहा था वे समर के पथ पर आरूढ़ थे।

सैद्धान्तिक मतभेद उस समय कटु और अनर्गल हो उठता है जब उसका जन्म प्रतिक्रिया से होता है। प्रगतिवाद का नया विवाद भी साहित्यिकों के उन अकर्मण्य तथा दायित्वहीन उद्गारों का जवाब है जो आँस्कर वाइल्ड जैसे लोगों के मुँह से “When man acts he is a puppet; when he decides he is a poet” आदि वाक्यों में निकले थे! जीवन न तो केवल ज्ञान पर टिका है और न केवल कर्म पर। पूर्णता दोनों के समुचित सामंजस्य में है। कर्म के संग ज्ञान का जब कभी असहकार होगा तभी ऐसे आन्दोलन उठ खड़े होंगे। विचारों को सजाकर, गेय बनाकर, संसार में मँडलाने के लिये छोड़ देने से कला विजयिनी नहीं हो सकती। उसकी सार्थकता तो तब है जब वह कार्य को प्रेरित करे। भाव की परिणति और पूर्णता बलिदान में है, लेकिन यह भी नहीं भूलना चाहिये कि बलिदान का जन्म भावों के बीच से होता है।

काव्य को एकबार मैंने जाग्रत पौरुष का उच्चार कहा था, लेकिन तब मैं इतना जोड़ना भूल गया था कि उसका विकास अर्द्ध-नारीश्वर के आशीर्वाद से होता है। हालांकि का पान करनेवाले नीलकंठ का अन्य अर्द्धांग अमृतपूर्ण है, यह कल्पना ही, मानों, काव्य को अपनी पूर्णता की याद दिलाती है। साहित्य जहाँ समकालीन पीढ़ी का परिपाक है वहाँ वह उसकी सनातन आवश्यकताओं की भी पूर्ति करता है। आत्मा की गहराइयों का मन्थन करनेवाला ध्यानस्थ, अन्तर्मुखी साहित्य जब समय की आवाज पर चौक पड़ता है, साधक का आसन छोड़कर सैनिकों के बीच जा खड़ा होता है, तब हमें यह सोचकर प्रसन्नता होती है कि संन्यास ने विपत्ति-ग्रस्त गार्हस्थ्य का साथ दिया। लेकिन स्मरण रहे कि गार्हस्थ्य की नित्य-उपासना से संन्यास की मर्यादा बढ़ती नहीं, घटती है। गाँवों से होकर बहनेवाली नदियाँ अपने किनारे पर के लोगों की तात्कालिक आवश्यकतायें तो पूरी कर देती हैं, लेकिन खुद उनसे मोह बढ़ाने को रुकती नहीं, अपने स्वाभाविक और अन्तिम लक्ष्य की ओर चलती रहती हैं। साहित्य की जो कृतियाँ वर्तमान जीवन के दाह और दुःखों से उदासीन हैं, जूझते हुए शूरमाओं की पदरज लेने में शरमाती हैं और मिट्टी की गन्ध से निर्लिप्त रहने का दंभ रचती हैं वे मृत हैं—वे कृतघ्न हैं और संसार को उनसे प्रतिशोध लेने का पूरा अधिकार है। लेकिन, जो साहित्य चेतना के चिरंजीवि तत्वों से अपना सम्बन्ध विच्छेद कर रहा है वह अपनी ही फाँसी की डोरी आप तैयार कर रहा है। कवि-कोविदों की तो बात ही क्या, हम चाहते हैं कि स्वयं ईश्वर भी कराहती हुई पृथ्वी की आवाज सुने और सत्यलोक से उतरकर धरती पर जन्म ले। दूसरी ओर, हमारी यह भी अभिलाषा है कि ईश्वर को मिट्टी पर बुलानेवाले खुद हमीं मिट्टी छोड़कर देवत्व की ओर बढ़ें और ईश्वर-कोटि को प्राप्त करें। समन्वय की यही भावना साहित्य का मूलाधार है और शून्य तथा सत्य की यह ग्रन्थि ऐसी अविच्छिन्न है कि एक के बिना दूसरा देखा ही नहीं जा सकता। साहित्य के त्रिविध ऐश्वर्य, (सत्य, शिव और सुन्दर में से किसी एक को तोड़कर अलग नहीं किया जा सकता और न किसी की पक्षपातपूर्ण एकांगी उपासना ही की जा सकती है। जहाँ समन्वय का साम्राज्य है वहाँ पक्षपात या विभाजन नहीं चल सकता और जहाँ इस प्राकृतिक नियम का विरोध होगा वहीं कला क्षत-विक्षत होकर गिर पड़ेगी और साहित्य मुमूर्षु हो जायगा।

लेकिन इस त्रिविध विभूति में से सत्य को तोड़कर अलग कर लेने की जो अप्राकृतिक चेष्टा की जा रही है उसका भी कारण है और अधिकांश में

यह उस प्रतिक्रिया का परिणाम है जो हिन्दी पर आधुनिक बंगला कविता तथा अंगरेज रोमांटिक कवियों के मादक एवं जृम्भोत्पादक प्रभावों के विरुद्ध अभी हाल में आरम्भ हुई है। साहित्य में प्रत्येक युग अपनी पूर्व-धारणाएँ लेकर चलता है और वर्तमान हिन्दी-कविता की पृष्ठ-भूमि में जो धारणाएँ निरूपित हुई थीं वे दलित राष्ट्र के आत्मदर्शन का प्रतीक थीं। रोमांटिक आन्दोलन के आरंभ से पूर्व ही हिन्दी-साहित्य के सामने राष्ट्रीय दुर्गति का चित्र काफी साफ होकर उग चुका था और ऐसे लोगों की प्रतीक्षा की जा रही थी जो इस चित्र में प्राण डालकर इसे सजीव कर सकें। लेकिन, साहित्य के सौभाग्य और राजनीति के दुर्भाग्य से हिन्दी में जिस शैली का जन्म हुआ वह इस कार्य के सर्वथा अयोग्य थी। इस रहस्य को अधिक स्पष्टता से देखने के लिए वर्तमान रोमांटिक शैली और इसके पूर्ववाली द्विवेदीकालीन शैली का भेद समझ लेना चाहिए।

सुविधा के लिए द्विवेदीकालीन शैली को अगर हम क्लासिक कहना स्वीकार करें तो यह विदित होगा कि क्लासिक से रोमांटिक इसीलिए भिन्न है चूँकि पहली श्रेणी के काव्य में प्रत्येक भावना अपने अधिक से अधिक नग्न रूप में मस्तिष्क के सामने लाई जाती है और उसका वर्णन अत्यन्त सीधे ढंग से किया जाता है, उसपर किसी किस्म का रंग नहीं चढ़ाया जाता और किसी भी सामग्री की सहायता के बिना ही उसे अपना प्रभाव आप उत्पन्न करना पड़ता है। इसके विपरीत, रोमांटिक रचनाओं में सभी चीजें किसी रंग बदलनेवाले पारदर्शी शीशे के भीतर से दिखलाई जाती हैं तथा रचना के चमत्कार और प्रभाव को तीव्रतम करने के लिए कवि मुख्य विचार के चारों ओर छोटे-छोटे रंगीन भावों की ऐसी घटाएँ सज देता है कि कभी-कभी मुख्य परिधि भी रंगीनियों के जाल में छिप-सी जाती हैं। रचना करते समय क्लासिक पद्धति का लेखक अपने आप को काबू में रखता है, लेकिन रोमांटिक कवि उत्तेजना और आवेश में इस प्रकार बहने लगता है कि उसे अपने आप की खबर नहीं रहती। विषय कितना भी शक्तिशाली या प्रशस्त क्यों न हो, लेकिन क्लासिक कवि उसे अपने नियंत्रण और प्रभुत्व में जरूर रक्खेगा, लेकिन रोमांटिक कवि का हाल ठोक इसके उलटा है। आत्म-नियंत्रण उसके स्वभाव में ही नहीं होता और जब वह किसी चीज को उठाता है तब उसे ऐसा मालूम होने लगता है कि वर्य वस्तु अपनी रंगीन किरणों से उसे चकाचौंध में डाल रही है और अपने जादू पर रिझाती हुई उसे कहीं दूर लिये जा रही है। एक तो आकाश की बातें भी चट्टान पर खड़ा होकर करता है। दूसरा धरती की बात करते

समय भी धरती से दूर ही रहता है; मानों, वह अपने ही भावों के आलोक में प्रच्छन्न हो गया हो। एक की खूबी नियंत्रण की शक्ति, सादगी और न्यायसंगत चित्रण है और दूसरे की विशेषता उन्मेष का बहुरंगी आलोक और अभिव्यंजना का अनन्त चमत्कार।

ऐसी रोमांटिक शैली—जो धरती से दूर-दूर ऊषा के कनकाभ प्रान्त से होकर चलने की आदी थी—अपने प्रेमियों को धूल में लोटने नहीं दे सकती थी, उन्हें उस कठोर सत्य के सामने खड़ा नहीं कर सकती थी जो देखने में कुरूप था, जिसके ताप से हल्के रंग उड़ जाते थे और जिसे चित्रित करने के लिए हृदय—ठीक हृदय—का लहू चाहिए था। रोमांटिक शैली के विशिष्ट पुजारी, जो आत्मबोध को कड़वाहट से घबराकर सौन्दर्यबोध की रंगीनियों में अपने को भुला रहे थे, यह लहू नहीं दे सकते थे, उनके हाथों में तो रंगों की छोटी-छोटी कटोरियाँ थीं जिन्हें सूखने से बचाने के लिए वे घटा की राह चल रहे थे। आखिर यह रक्त दिया भी गया, लेकिन उनके द्वारा जिनके अन्दर का मनुष्य कवि की अपेक्षा अधिक बलवान था और जो अपने जीवन के तेज से छायावाद के कुहासे को भेदकर समय के आर-पार देख सकते थे। ज्ञान के संग कर्म के असहकार का जैसा ज्वलन्त उदाहरण हिन्दी-कविता के छायावादी युग में देखने को मिला वैसा किसी भी साहित्य में शायद ही मिला होगा। रोमांटिक जादूगरनी ने कवियों को भुलाना तो बहुत चाहा, लेकिन, धरती का निरन्तर ऊर्ध्वगामी नाद इतना कठोर था कि ये कल्पक शून्य में अपना आश्रय कायम नहीं रख सके और उनमें से कई, आज मिट्टी पर उतर कर, हल-पालो पकड़ रहे हैं। प्रतिक्रिया ऐसी भीषण हुई है कि साहित्य की भूमि पर चरखे और फावड़े की कौन कहे, भैंसागाड़ी और ट्राम तक चलने लग गई है।

जिन्होंने धरती के क्रन्दन से बचने के लिये कभी आकाश की शरण ली थी वे ही आज झोपड़ियों के पास बैठकर रो रहे हैं। एक दिन जिन स्वप्नों की रक्षा के लिए पृथ्वी का तिरस्कार किया गया था, आज वे ही स्वप्न आहुतियों के रूप में अग्नि को समर्पित किये जा रहे हैं। तब जो साहित्य तैयार हुआ था उसमें जीवन का अभाव था; अब जो कुछ लिखा जा रहा है उसमें चिन्तन की कमी है। एकांगी होकर साहित्य प्रगतिशील भले ही कहला ले, लेकिन समन्वय के बिना वह दीर्घायु नहीं हो सकता।

कुछ कसूर उस जमाने का भी है जिसमें हमलोग जी रहे हैं। आधि-भौतिकता के विरुद्ध सौन्दर्यबोध की जो प्रतिक्रिया हुई उसके फलस्वरूप यह

भावना चल पड़ी कि कुछ चीजें कविता का विषय नहीं हो सकतीं। अर्थात्, कवि गुलाब की तो चर्चा कर सकता है, किन्तु ट्राम की नहीं; यानी कविता दुःखों का सामना नहीं कर सकती, उसकी, ओर से आँखें फेरकर सुख पा सकती है, यानी कवि भाषुक होने के कारण स्वप्नों में शरण खोज सकता है, जीवन की रूढ़ता का मुकाबिला नहीं कर सकता, यानी उसके हाथ में कोमल गान करनेवाली बाँसुरी होती है और वह अपने अर्द्धमूक बन्धुओं को प्रेरित करने के लिए शंखनाद नहीं कर सकता।

प्रगतिवाद इस मिथ्या सिद्धान्त का खंडन करने आया था, लेकिन, देखते हैं कि आवेश में आकर वह खुद एक दूसरे भ्रम में पड़ने जा रहा है और धीरे-धीरे इस सिद्धान्त की ओर झुकता जा रहा है कि केवल कुछ ही चीजें कविता का विषय हो सकती हैं। प्रगति शब्द में जो नया अर्थ ठूँसा गया है उसके फलस्वरूप हल और फावड़े कविता का सर्वोच्च विषय सिद्ध किये जा रहे हैं और वातावरण ऐसा बनता जा रहा है कि जीवन की गहराइयों में उतरनेवाले कवि सिर उठा कर नहीं चल सके।

काव्य का साम्राज्य निर्वन्ध है और उसमें किसी के प्रवेश का निषेध नहीं हो सकता। रत्नसरायस या ट्राम को कवि के स्वप्न में आने का उतना ही अधिकार है जितना गुलाब को; लेकिन, दोनों में से कोई भी अपने वैज्ञानिक रूप के कारण काव्य में नहीं आ सकता।

साहित्य में बहुशता उपयोगी है, लेकिन उसका प्रदर्शन बड़ा ही भयावह। साहित्य की रचना में 'हम क्या कहें' इस चिन्ता का महत्त्व उतना नहीं है जितना इसका कि 'हम क्या नहीं कहें।' रचना करते समय शब्दों की भीड़ को, भावों के मेले को काव्य में उतरने से रोकना पड़ता है। लेकिन, इस नियंत्रण के बावजूद भी जो शब्द, जो भाव और जो पदार्थ कविता में आकर ही दम लें उन्हीं से सत्कवित्व और जीवित साहित्य तैयार होता है। इस नियंत्रण को मानते हुए अगर रत्नसरायस काव्य में घुस पड़े तो यह समझना चाहिए कि उसने काव्य में आने का सच्चा मार्ग पा लिया है।

किसी भी युग में कविता के महत्त्व का कारण उसका कवि हुआ करता है जो अपने ही युग में दूसरे लोगों की अपेक्षा अधिक जीवित और अधिक चैतन्य होता है। प्रत्येक युग अपने कवि की प्रतीक्षा किया करता है, क्योंकि कवि के आगमन के साथ इस बात का पता चल जाता है कि उस युग की भावनाएँ किस ऊँचाई तक बढ़ी हैं। कवि वह बिन्दु है जहाँ समसामयिक ज्ञान के विस्तार की सीमा बाँधी जाती है। मनुष्य-जाति का प्रत्येक ज्ञान, प्रत्येक आविष्कार, प्रत्येक

उल्लास, प्रत्येक आस और प्रत्येक भावना अपने समय के कवि पर अपना प्रभाव डालती है। संसार के हृदय का प्रत्येक स्पन्दन कवि की बहुमुखी एवं संवेदनशील चेतना में सिहरन पैदा करता है। कवि को हम अपनी पीढ़ी की वाणी इसी लिए कहते हैं चूँकि वह, हमारे हृदयों में अज्ञात रूप से बसनेवाली संज्ञाहीन तथा अमूर्त भावनाओं को मूर्त रूप देता है। अपने देश नहीं, बल्कि अपने समय का मनुष्य होने के कारण वह समसामयिक भावनाओं को जिस प्रकार हृदयङ्गम कर सकता है, वैसा दूसरे लोग नहीं कर सकते ! अपने हृदय से ही हम कवि की भावना की दिशा का अन्दाज कर सकते हैं। अगर हमारे हृदयों में आज वैज्ञानिक आविष्कार किसी नवीन काव्य के बीज बो रहे हैं तो कोई कारण नहीं कि उनका मूर्त रूप कवि की वाणी में प्रकट नहीं होगा। कवि-जैसे संवेदनशील प्राणी को न तो गुलाब पर लिखने को बाध्य करना चाहिए और न ट्राम पर। उसकी कला की सबसे बड़ी विजय यह है कि अपनी शैली से वह यह दिखला दे कि अपने युग में वह पूर्ण रूप से जीवित था। कवि के इस प्रकार जीवित रहने का प्रमाण भगवती बाबू की भैंसागाड़ी ने दिया है और दिया है गुप्तजी की इन पंक्तियों ने—

राम, तुम मानव हो ? ईश्वर नहीं हीं हो क्या ?

तो मैं निरीश्वर हूँ, ईश्वर ज़मा करे।

जिनमें राम के ईश्वरत्व के विषय का साम्प्रतिक सन्देह एक आस्तिक कवि के मुख से अनायास ही व्यक्त हो गया है—इसलिए नहीं कि कवि उस सन्देह में कोई तत्व देखता है, बल्कि इसलिये कि समय ने बरबस यह बात उसके मुख में रख दी है।

इस छोटी-सी दलील के बाद मुझे आश्चर्य होना चाहिए कि 'रसवन्ती' प्रगतिकामियों के भी निरादर की वस्तु नहीं ठहरेगी और इसे वह प्रेम सहज ही प्राप्त हो जायगा जिसकी यह अधिकारिणी है। मुझमें इतनी हिम्मत नहीं कि 'स्वान्तः सुखाय' कहकर पाठकों से छुट्टी पा लूँ; क्योंकि आत्म-सुख के साथ मैं उनकी प्रसन्नता के लिए भी लिखता हूँ और पाठकों की प्रसन्नता से मेरा अपना सुख, अधिक नहीं तो दूना तो अवश्य हो जाता है। 'रसवन्ती', एक तरह से, मेरा नूतन प्रयोग है। अपने आलोचकों से मैं निवेदन करूँगा कि इसमें अगर कोई अपरिपक्वता भूलके तो वे मुझे कृपापूर्वक क्षमा करेंगे, क्योंकि अपनी कृति में असफल हो जाने से बढ़कर कलाकार के लिए दूसरा दर्द नहीं है। यों मैंने सुन रक्खा है कि साहित्य में कवि की परीक्षा का अर्थ है या तो उसे आसमान पर चढ़ा देना या फिर उसके टुकड़े-टुकड़े करके पैरों से मसल देना। स्वभाव से

ही पत्रकारों के हिस्से में पहला और आलोचकों के हिस्से में दूसरा काम पड़ा है।

एक बात मौलिकता के सम्बन्ध में भी, जिसके अभाव से महाकवियों की शक्ति और छोटे कवियों की दुर्बलता की वृद्धि होती है। मुझे कवि ईलियट की इस उक्ति में बड़ा तथ्य दीखता है कि “सर्वथा मौलिक रचनाएँ सर्वथा हेय हैं और उन्हें बुरे अर्थ में Subjective कहना चाहिए, क्योंकि जिस प्रकार के संसार का उन्हें हृदय छूना है उसके साथ उनका कोई सरोकार नहीं रहता।” विश्व-साहित्य की सब से अधिक लोकप्रिय कृतियों में पूर्वागत सामग्री का सबसे अधिक उपयोग हुआ है और परम्परा से सर्वथा भिन्न बातें कहनेवालों की अपेक्षा प्राचीन बातों को भी सर्वथा नवीन ढंग से कहनेवाले लोग अधिक सफल और बलवान् समझे गये हैं। सर इकबाल के ‘जावेदनामा’ का जन्म दान्ते की प्रेरणा से हुआ और कबिगुरु श्रीरवीन्द्रनाथ पर वैष्णवों, अँगरेज रोमांटिक कवियों और कालिदास का सीधा तथा स्पष्ट प्रभाव है। नानापुराण-निगमागम-सम्मत श्रीरामचरित मानस को तो छोड़िए, स्वयं कालिदास पर, सम्भवतः, अश्वघोष और भास का श्रृण है तथा रामचरितमानस और सर एडविन की लाइट श्राव एशिया के अनुकरण पर नये ग्रन्थ बनते ही चले जा रहे हैं। पूर्वागत संस्कार से रस-ग्रहण किये बिना समाज के हृदय का सान्निध्य प्राप्त नहीं किया जा सकता। लोकप्रियता उन्हीं रचनाओं को मिलती है जिनकी शैली और भाव दोनों के बीज समाज के हृदय में पहले से ही प्रच्युन्न रहते हैं। सफल रचना वह है जिसे सुनकर श्रोता कह उठे कि उसके मन में भी ठीक वे ही बातें थीं अथवा यों कि “यह बात कितनी सत्य लगती है, लेकिन मुझे अबतक नहीं सूझी थी।”

समय से बहुत आगे बढ़कर कहना बड़ी जोखिम का काम है और संप्रति भारतवर्ष में इसे फैलनेवाले साहसी कवि केवल निरालाजी हैं। हिन्दी-काव्य का विकास उनकी निर्दिष्ट दिशा में होता जायेगा या नहीं, यह न तो वे ही कह सकते हैं और न कोई और; फिर भी अपने निर्मित मार्ग पर वे दृढ़तापूर्वक आरुढ़ हैं। भारतीय साहित्य में कवि के आत्मविश्वास और साहस का यह एक अद्भुत उदाहरण है।

साहित्य के अन्दर सम्पूर्ण नवीनता का प्रश्न न तो सरल समझा जाना चाहिए और न वांछनीय। विभिन्न कवियों के द्वारा एक ही भाव के पूर्वापर प्रयोगों से यह सिद्ध है कि पहले के प्रयोगों पर कुछ उन्नति करना, यही सच्ची मौलिकता है। यह भी ध्यान देने की बात है कि मौलिकता जहाँ अत्यन्त प्रखर थी, समालोचकों ने वहीं सबसे कठोर दंड दिया !

जिस भावना ने एक कवि की कृति को कोई सुन्दर रूप दिया है, वहीं दूसरे के लिए भी प्रेरक सिद्ध हो सकती है। दीपक के संयोग से दीप जलता है, त्यों ही एक रचना दूसरी रचना को जन्म देती है। मुझे यह स्वीकार करने में कोई संकोच नहीं है कि मैं अपने पूर्ववर्ती महाकवियों का उतना ही श्रुणी हूँ जितना हिमालय अथवा हिन्दमहासागर का। हाँ, यह ठीक है कि जिस प्रकार मैं हिमालय से कुछ माँगने नहीं गया था, उसी प्रकार तुलसी, सूर, कबीर अथवा रवीन्द्र और इकबाल से भी कोई याचना नहीं की। हिमालय नाम में जो कुछ दिव्यता है वह मेरे मन में अनायास और अज्ञातरूप से कब, किस दिन बस गई, इसका पता नहीं; जाना तब जब एक रात सहसा मेरे स्वर में हिमालय बोलने लगा। इसी प्रकार, किस कवि के कौन से विचार किस दिन मेरी मनोभूमि में गिर गये, इसकी खबर नहीं रही। बरसों बाद, मौसिम आने पर जब उनके अंकुर निकले तब मुझे यह जानकर प्रसन्नता हुई कि उनकी हरीतिमा में मेरे ही प्राणों का रस लहरा रहा था।

जो बात मौलिकता के विषय में, वही कला की सूक्ष्मता के सम्बन्ध में भी। कला की विशेषता काव्य-द्रव्य को भली भाँति प्रकट करने में है और जहाँ द्रव्य है वहीं शैली की भी शोभा है। कुछ नहीं कहने का ढंग कभी भी आकर्षक नहीं हो सकता। सूक्ष्मता की उपासना के प्रयास में कविता जिस प्रकार अशक्त होती जा रही है वह साहित्य के लिए दुर्भाग्य की बात है। श्रोताओं की काफी बड़ी संख्या के बिना कोई भी काव्य, शायद ही, जीवित रह सकता है और आज के साहित्य में कवियों और पाठकों के बीच एक खाई-सी बनती जा रही है। अधिकांश पाठकों के सांस्कृतिक स्तर को अनुन्नत मानते हुए भी यह कहना पड़ेगा कि इस अवांछनीय अवस्था का बहुत बड़ा दायित्व काव्य-कला के विशिष्टीकरण के प्रयास पर है। और, अभी इस दोष का कोई परिहार भी नहीं दीखता, क्योंकि विशिष्टीकरण वर्तमान सभ्यता के विकास-क्रम में ही निहित-सा है तथा साहित्य, चित्रकला एवं काव्य बड़ी तेजी के साथ विशिष्ट होते चले जा रहे हैं। घिसते-घिसते कला इतनी बारीक हो गई है कि आज की श्रेष्ठ रचनाएँ तभी आनन्द दे सकती हैं जब पाठक ऊँचे-से-ऊँचे स्तर पर चढ़कर उनकी ओर मुखातिब हो सके। पहले की रचनाएँ ऐसी नहीं थीं, उनके आनन्द के स्तर एक नहीं—अनेक होते थे और प्रत्येक पाठक अपनी योग्यता के अनुसार उनका रस प्राप्त कर सकता था। मेरा अभिप्राय उस भेद से है जो 'रामचरितमानस' और 'कामायनी' के बीच विद्यमान है।

एक ओर तो हमारे वत्तमान आचार्य छिलका छीलकर बीज-मात्र कहने की शैली का प्रचार कर रहे हैं, दूसरी ओर पाठकों का विशाल समुदाय भूलकर भी सूक्ष्मताओं को समझने की कोशिश नहीं करता। 'उत्पत्स्यते च मम कोऽपि समानधर्म्मा' के उपासक कवि यह सोचकर निश्चिन्त हैं कि पाठकों को कभी न कभी सूक्ष्मता के स्तर तक पहुँचना ही पड़ेगा और श्रोताओं को यह संतोष है कि कविताएँ समझने के लिए मानसिक व्यायाम किये बिना भी उनके दैनिक जीवन में कोई व्यवधान नहीं पड़ता। पाठकों का जो रुख है और काव्य-कला जिस तेजी के साथ बारीक होती जा रही है उसे देखते हुए यह कहना कठिन है कि भविष्य में कविता का महत्त्व क्या रह जायगा। विशिष्टता और बारीकी ने वर्तमान अँगरेजी कविता का जो हाल कर रखा है उसे देखते हुए यह प्रस्ताव उपयोगी दीखता है कि पाठकों को बीज के साथ कुछ छिलके भी दिये जायँ।

सीतामढ़ी
जन्माष्टमी, १९४०

}

—दिनकर

रसवन्ती

रसवन्ती

अरी ओ रसवन्ती सुकुमार !

(१)

लिये क्रीड़ा - वंशी दिन - रात
पलातक शिशु - सा मैं अनजान,
कर्म के कोलाहल से दूर
फिरा गाता फूलों के गान ।

कोकिलों ने सिखलाया कभी
माधवी - कुञ्जों का मधु राग,
कण्ठ में आ बैठी अज्ञात
कभी वाङ्मय की दाहक आग ।

पत्तियाँ फूलों की सुकुमार
गईं हीरे - से दिल को चीर,
कभी कलिकाओं के मुख देख
अचानक दुलक पड़ा दृग - नीर ।

तृणों में कभी खोजता फिरा
विकल मानवता का कल्याण,
बैठ खँडहर में करता रहा
कभी निशि-भर अतीत का ध्यान ।

श्रवण कर चल-दल-सा उर फटा
दलित देशों का हाहाकार,
देखकर सिर पर मारा हाथ
सभ्यता का जलता शृङ्गार।

शाप का अधिकारी यह विश्व,
किरीचों का जिसको अभिमान,
दीन - दलितों के क्रन्दन - बीच
आज क्या डूब गए भगवान ?

तप्त मरु के सिंचन के हेतु
टटोला निज उर का रस-कोष;
ओस के पीने से पर, हाय,
विश्व क्या पा सकता सन्तोष ?

विन्दु या सिन्धु चाहिए उसे,
हमें तो निज पर ही अधिकार;
मुरलिका के रन्ध्रों में लिये
चला निज प्राणों का उपहार।

साधना की ज्वाला जब बड़ी,
गया वासव का आसन डोल,
पूछने लगी मुझे पथ रोक
ठगिनि माया जीवन का मोल।

प्रिये रसवन्ती ! जग है कठिन,
मनुज दुर्बल, मानव लाचार,
परीक्षा को आया जब विश्व,
गया जीवन की बाजी हार ।

द्वार कारा का बीचोंबीच
इधर मैं बन्दी, तुम उस ओर,
प्रिये ! तो भी ममता से हाथ,
खींचती क्यों मेरा पट - छोर ?

प्रणय उससे कैसा यह जो कि
गया पहली ही बाजी हार ?
चीखती क्यों ले - ले कर नाम
अरी ओ रसवन्ती सुकुमार ?

(२)

दुखों की सुख में स्मृतियाँ मधुर,
सुखों की दुख में स्मृतियाँ शूल;
विरह में किन्तु, मिलन की याद
नहीं मानव - मन सकता भूल ।

याद है वह पहला मधुमास,
कोरकों में जब भरा पराग,
शिराओं में जब तपने लगी
अर्द्ध - परिचित - सी कोई आग ।

एक क्षण कोलाहल के बीच
पुलक की शीतलता में मौन,
सोचने लगा हृदय में आज
हुआ नूपुर मुखरित यह कौन ?

खोल दृग देखा प्राची - ओर
अलकक - चरणों का शृङ्गार,
तुम्हारा नव, उद्वेलित रूप,
व्योम में उड़ता कुन्तल - भार ।

उठा मायाविनि ! अन्तर - बीच
कल्पना का कल्लोलित ज्वार,
लगा सद्यःस्फुट पाटल—सदृश
दृगों को मोहक यह संसार ।

लगी पृथ्वी आँखों को देवि !
सिक्त सरसीरुह - सी अम्लान;
कूल पर खड़ी हुई - सी निकल
सिन्धु में करके सद्यःस्नान ।

ग्रहण कर उस दिन ही सुकुमारि,
तुम्हारे स्वर्णांचल का छोर,
खोजने तृषितों का कल्याण
चला मैं अमृत - देश की ओर ।

गिरे थे जहाँ धर्म के बीज,
उगा था जहाँ कभी भी ज्ञान,
वहाँ की मिट्टी पर हम चले
प्रणति में झुकते एक - समान ।

पन्थ में दूर्वा से सज तुम्हें
पिन्हाया गंगा का गलहार,
शीश पर हिम-किरीट रख किया
देश की मिट्टी से शृङ्गार ।

विमूर्च्छित हुई तपोवन - बीच
कराया निर्भर का जल पान;
बोधि - तरु की छाया में बाँह
हुई शुचि बनकर तब उपधान ।

धरा का जिस दिन सौरभ-कोष
खोलने लगी प्रथम बरसात,
न जानें क्यों नालन्दा - बीच
रहे रोते हम सारी रात ।

प्रेम-बिरवा आँगन में रोप
रहे थे हम जब हिल-मिल सींच,
अचानक कुटिल नियति ने मुझे
लिया उस दिव्य लोक से खींच ।

अचानक हम दोनों के बीच
पड़ा आकर माया-व्यवधान;
रचा मेरे बन्धन के हेतु
भीषिकाओं ने दुर्ग महान ।

प्रकम्पित कर सारा ब्रह्माण्ड
किया प्राणों ने जब चीत्कार;
विहँसने लगा व्यंग्य से विश्व,
अरी ओ रसवन्ती सुकुमार !

(३)

बन्धनों से होकर भयभीत
किन्तु, क्या हार सका अनुराग ?
मानकर किस बन्धन का दर्प
छोड़ सकती बाला को आग ?

पुष्प का सौरभ से संबन्ध
छुड़ा सकता कोई व्यवधान ?
कौन सत्ता वह जिसको देख
रश्मि को तज सकता दिनमान ?

आपदाएँ सौ बन्धन डाल
प्रेम का कर सकती अपमान ?
यहाँ शापित यक्षों के रोज
उड़ा करते अम्बर में गान ।

उठेगा व्याकुल, दुर्दमनीय
 जुब्ध होकर जब पारावार,
 रुद्ध होगा कैसे हे देवि !
 धृष्ट शैलों से कण्ठद्वार ?

फोड़ दूँगा माया के दुर्ग,
 तोड़ दूँगा यह वज्र - कपाट;
 व्योम में गाने को जिस रोज
 बुलायेगा निर्वन्ध, विराट ।

मिट्टा दूँगा ब्रह्मा का लेख,
 फिरा लूँगा खोया निज दाँव,
 चलूँगा निज बल हो निःशंक
 नियति के सिर पर देकर पाँव ।

तरंगित सुषमाओं पर खेल
 करूँगा देवि ! तुम्हारा ध्यान ;
 दुखों की जलधारा में भींग
 तुम्हारा ही गाऊँगा गान ।

सजेगा जिस दिन उत्सव - हेतु
 देश-माता का तोरण - द्वार ;
 करेंगे हम ले मङ्गल - शंख
 उदय का स्वागत - मंत्रोच्चार ।

निखिल जन्मों में जिस पर देवि !
चढ़ाये हमने तन, मन, प्राण,
सुनेंगे हवन - हेतु इस बार
एक दिन फिर उसका आह्वान ।

काल - नौका पर हो आरूढ़
चलेंगे जिस दिन प्रभु के देश,
विश्व की सीमा पर सुकुमारि,
करेंगे हम तुम संग प्रवेश ।

चकित होंगे सुनकर गन्धर्व
तुम्हारी दूरागत मृदु तान,
श्रवण कर नूपुर की भंकार
भग्न होगा रम्भा का मान ।

✓ 'स्वर्ग से भी सुन्दर यह कौन ?'
करेंगे सुर जब चकित पुकार,
कहूँगा मैं, "दिव से भी मधुर
विश्व की रसवन्ती सुकुमार ।"



गीत-अगीत

गीत, अगीत कौन सुन्दर है ?

(१)

गाकर गीत विरह के तटिनी
वेगवती बहती जाती है ,
दिल हलका कर लेने को
उपलों से कुछ कहती जाती है ।
तट पर एक गुलाब सोचता —
“देते स्वर यदि मुझे विधाता,
अपने पतझड़ के सपनों का
मैं भी जग को गीत सुनाता ।”

गा-गा कर बह रही निर्भरी,
पाटल मूक खड़ा तट पर है ।
गीत, अगीत कौन सुन्दर है ?

(२)

बैठा शुक उस घनी डाल पर
जो खोंते पर छाया देती,
पंख फुला नीचे खोंते में
शुकी बैठ अंडे है सेती ।

गाता शुक जब किरण बसन्ती
छूती अङ्ग पर्ण से छनकर,
किन्तु, शुक की के गीत उमड़कर
रह जाते सनेह में सनकर ।

गूँज रहा शुक का स्वर वन में,
फूला मग्न शुक का पर है ।
गीत, अगीत कौन सुन्दर है ?

(३)

दो प्रेमी हैं यहाँ, एक जब
बड़े सौंभ आल्हा गाता है,
पहला स्वर उसकी राधा को
घर से यहाँ खींच लाता है ।
चोरी-चोरी खड़ी नीम की
छाया में छिपकर सुनती है,
'हुई न क्यों मैं कड़ी गीत की
विधना', यों मन में गुनती है ।

वह गाता, पर किसी वेग से
फूल रहा इसका अन्तर है ।
गीत, अगीत कौन सुन्दर है ?



बालिका से बधू

माथे में सेंदुर पर छोटी
दो बिन्दी चमचम - सी,
पपनी पर आँसू की बूँदें
मोती - सी, शबनम - सी ।

लदी हुई कलियों से मादक
टहनी एक नरम - सी,
यौवन की बिनती-सी भोली,
गुमसुम खड़ी शरम - सी ।

पीला चीर, कोर में जिसकी
चकमक गोटा - जाली,
चली पिथा के गाँव उमर के
सोलह फूलों वाली ।

पी चुपके आनन्द, उदासी
भरे सजल चितवन में,
आँसू में भींगी माया
चुपचाप खड़ी आँगन में ।

आँखों में दे आँख हेरती
हैं उसको जब सखियाँ,
मुस्की आ जाती मुख पर,
हँस देती रोती आँखियाँ।

पर, समेट लेती शरमाकर
बिखरी - सी मुसकान,
मिट्टी उकसाने लगती है
अपराधिनी — समान।

भींग रहा मीठी उमङ्ग से
दिल का कोना - कोना,
भीतर-भीतर हँसी देख लो,
बाहर - बाहर रोना।

तू वह, जो झुरमुट पर आई
हँसती कनक - कली - सी,
तू वह, जो फूटी शराब की
निर्भरिणी पतली - सी।

तू वह, रच कर जिसे प्रकृति
ने अपना किया सिंगार,
तू वह जो धूसर में आई
सबुज रंग की धार।

माँ की ढीठ दुलार ! पिता की
ओ लजवन्ती भोली,
ले जायगी हिया कि मणि को
अभी पिया की डोली ।

कहो, कौन होगी इस घर की
तब शीतल उजियारी ?
किसे देख हँस - हँस कर
फूलेगी सरसों की क्यारी ।

वृक्ष रीझकर किसे करेंगे
पहला फल अर्पण - सा ?
भुकते किसको देख पोखरा
चमकेगा दर्पण - सा ?

किसके बाल ओज भर देंगे
खुलकर मन्द पवन में ?
पड़ जायेगी जान देखकर
किसको चन्द्र - किरन में ?

मँह-मँह कर मंजरी गले से
मिल किसको चूमेगी ?
कौन खेत में खड़ी फसल
की देवी-सी भूमेगी ?

बनी फिरेगी कौन बोलती
प्रतिमा हरियाली की ?
कौन रूह होगी इस धरती
फल-फूलों वाली की ?

हँसकर हृदय पहन लेता जब
कठिन प्रेम जंजीर,
खुल कर तब बजते न सुहागिन,
पाँवों के मंजीर ।

घड़ी गिनी जाती तब निशिदिन
उँगली की पोरों पर,
प्रिय की याद भूलती है
साँसों के हिंडोरों पर ।

पलती है दिल का रस पीकर
सबसे प्यारी पीर,
बनती और बिगड़ती रहती
पुतली में तस्वीर ।

पड़ जाता चस्का जब मोहक
प्रेम - सुधा पीने का,
सारा स्वाद बदल जाता है
दुनिया में जीने का ।

मंगलमय हो पंथ सुहागिन,
 यह मेरा वरदान;
 हरसिंगार की टहनी - से
 फूलें तेरे अरमान ।

जगो हृदय को शीतल करने-
 वाली मीठी पीर,
 निज को डुबो सके निज में,
 मन हो इतना गंभीर ।

छाया करती रहे सदा
 तुझको सुहाग की छाँह,
 सुख-दुख में ग्रीवा के नीचे
 रहे पिया की बाँह ।

पल-पल मङ्गल-लग्न, जिन्दगी
 के दिन-दिन त्योहार,
 उर का प्रेम फूटकर हो
 आँचल में उजली धार ।



प्रीति

(१)

प्रीति न अरुण साँझ के घन सखि !

पल-भर चमक बिखर जाते जो
मना कनक-गोधूलि-लगन सखि !

प्रीति नील, गंभीर गगन सखि !

चूम रहा जो विनत धरणि को
निज सुख में नित मूक-मगन सखि !

(२)

प्रीति न पूर्ण चन्द्र जगमग सखि !

जो होता नित क्षीण, एक दिन
विभा-सिक्त करके अग-जग सखि !

दूज-कला यह लघु नभ-नग सखि !

शीत, स्निग्ध, नव रश्मि छिड़कती
बढ़ती ही जाती पग-पग सखि !

(३)

मन की बात न श्रुति से कह सखि !

बोले प्रेम विकल होता है,
अनबोले सारा दुख सह सखि !

कितना प्यार ? जान मत यह सखि !

सीमा, बन्ध, मृत्यु से आगे
बसती कहीं प्रीति अहरह सखि !

(४)

तृणवत् धधक-धधक मत जल सखि !

ओदी आँच धुनी विरहिन की,
नहीं लपट की चहल-पहल सखि !

अन्तर्दाह मधुर मंगल सखि !

प्रीति-स्वाद कुछ ज्ञात उसे, जो
सुलग रहा तिल-तिल, पल-पल सखि !



दाह की कोयल

दाह के आकाश में पर खोल,
कौन तुम बोली पिकी के बोल ?

(१)

दर्द में भींगी हुई - सी तान,
होश में आता हुआ - सा गान;
याद आई जीस्त की बरसात,
फिर गई दृग में उजेली रात;
काँपता उजली कली का वृन्त,
फिर गया दृग में समग्र वसन्त ।
मुँद गई पलकें, खुले जब कान,
सज गया हरियालियों का ध्यान;
मुँद गई पलकें कि जागी पीर,
पीर, बिछुड़ी चीज की तस्वीर ।
प्राण की सुधि-ग्रन्थि भूली खोल,
कौन तुम बोली पिकी के बोल ?

(२)

दूर छूटी छाँहवाली डाल,
दूर छूटी तरु - द्रमों की माल;

दूर छूटा पत्तियों का देश,
तलहटी का दूर रम्य प्रदेश;
कब सुना, जानें न, जल का नाद,
कब मिलीं कलियाँ, नहीं कुछ याद ।
ओस-वृण को आज सिर्फ बिसूर
चल रहा मैं बाग-वन से दूर ।
शीशे पर जलता हुआ दिनमान,
और नीचे तप्त रेगिस्तान ।
छाँह-सी मरु-पन्थ में तब डोल
कौन तुम बोली पिकी के बोल ?

(३)

वालुओं का दाह मेरे ईश !
और गुमरते दर्द की यह टीस !
सोचता विस्मित खड़ा मैं मौन,
खोजती आई मुझे तुम कौन ?
कौन तुम, ओ कोमले अनजान ?
कौन तुम, किस रोज की पहचान ?
हाँ, जरा-सी याद भूली बात,
दूध की धोई उजेली रात;
जब किरन-हिंडोर पर सामोद
स्थात्, भूली बैठ मेरी गोद ।
या कहीं ऊषा-गली में प्रान !
घूमते तुमसे हुई पहचान ।
तारकों में या नियति की बात
पढ़ रहा था जबकि पिछली रात,

तुम मिली ओढ़े सुवर्ण - दुकूल,
भोर में चुनते विभा के फूल,
भूमि में, नभ में कहीं ओ प्राण !
याद है, तुमसे हुई पहचान ।

(४)

याद है, तुम तो सुधा की धार,
याद है, तुम चाँदनी सुकुमार,
याद है, तुम तो हृदय की पीर,
याद है, तुम स्वप्न की तस्वीर,
याद है, तुम तो कमल की नाल,
मंजरी के पास वाली नर्म कोंपल लाल ।

इन्द्र की धनुषी, सजल रंगीन,
खोजती किसको दहकती वायु में उड़ती ?

दाह के आकाश में पर खोल
बोलने आई पिकी के बोल ।

(५)

चिलचिलाती धूप का यह देश
कल्पने ! कोमल तुम्हारा वेश;
लाल चिनगारी यहाँ की धूल,
एक गुच्छा तुम जुही के फूल ।
दाह में यह ब्याह का संगीत !
भूल क्या सकती न पिछली प्रीत ?

पड़ चुका है आग में संसार,
 आज तुम असमय पधारी, क्या करूँ सत्कार ?
 मेरी बावली मेहमान !
 शेष जो अब भी उसे निज को समर्पित जान ।
 लूह में आशा हरी सुकुमार,
 दाह के आकाश में मन्दाकिनी की धार;
 धूप में उड़ती हुई शबनम अरी अनमोल !
 कौन तुम बोली प्रीकी के बोल ?



नारी

खिली भू पर जब से तुम नारि !
कल्पना-सी विधि की अम्लान,
रहे फिर तब से अनु-अनु देवि !
लुब्ध भिक्षुक-से मेरे गान ।

तिमिर में व्योति-कली को देख
सुविकसित, वृन्तहीन अनमोल ;
हुआ व्याकुल सारा संसार,
किया चाहा माया का मोल ।

हो उठी प्रतिभा सजग, प्रदीप्त,
तुम्हारी छवि ने मारा बाण ;
बोलने लगे स्वप्न निर्जीव,
सिहरने लगे सुकवि के प्राण ।

लगे रचने निज घर को तोड़
तुम्हारी प्रतिभा प्रतिमाकार,
नाचने लगी कला चहुँ - ओर
भाँवरी दे - दे विविध प्रकार ।

ज्ञानयों ने देखा सब ओर
प्रकृति की लीला का विस्तार ;
सूर्य, शशि, उडु जिनकी नख-ज्योति,
पुरुष उन चरणों का उपहार ।

अगम 'आनन्द'-जलधि में डूब
तृषित 'सत्-चित्' ने पाई पूर्त्ति ;
सृष्टि के नाभि-पद्म पर नारि !
तुम्हारी मिली मधुर रस-मूर्त्ति ।

कुशल विधि के मन की नवनीत,
एक लघु दिव-सी हो अवतीर्ण,
कल्पना-सी, माया-सी, दिव्य--
विभा-सी भू पर हुई विकीर्ण ।

दृष्टि तुमने फेरी जिस ओर
गई खिल कमल-पंक्ति अम्लान ;
हिंस्र मानव के कर से स्वस्त
शिथिल गिर गए धनुष औ' बाण ।

हो गया मंदिर दृगों को देख
सिंह - विजयी बर्बर लाचार,
रूप के एक तन्तु में नारि !
गया बँध मत्त गयन्द - कुमार ।

एक चितवन के शर ने देवि !
 सिन्धु को बना दिया परिमेय ;
 विजित हो दृग-मद से सुकुमारि !
 झुका पद-तल पर पुरुष अजेय ।

कर्मियों ने देखा जब तुम्हें,
 टूटने लगे शम्भु के चाप ।
 बेधने चला लक्ष्य गांडीव,
 पुरुष के खिलने लगे प्रताप ।

हृदय निज फरहादों ने चीर
 वहा दी पथ की उज्ज्वल धार,
 आरती करने को सुकुमारि !
 इन्दु को नर ने लिया उतार ।

एक इंगित पर दौड़े शूर
 कनक-मृग पर होकर हत-ज्ञान,
 हुई ऋषियों के तप का मोल
 तुम्हारी एक मधुर मुसकान ।

विकल उर को मुरली में फूँक
 प्रियक - तरु - छाया में अभिराम,
 बजाया हमने कितनी बार
 तुम्हारा मधुमय 'राधा' - नाम ।

कढ़ी यमुना से कर तुम स्नान,
पुलिन पर खड़ी हुई कच खोल,
सिक्त कुन्तल से भरते देवि !
पिये हमने सीकर अनमोल !

तुम्हारे अधरों का रस प्राण !
वासना - तट पर पिया अधीर;
अरी ओ माँ, हमने है पिया
तुम्हारे स्तन का उज्ज्वल क्षीर ।

पिया शैशव ने रस - पीयूष,
पिया यौवन ने मधु मकरन्द;
तृषा प्राणों की पर हे देवि !
एक पल को न सकी हो वन्द ।

पुरुष पँखुरी को रहा निहार
अयुत जन्मों से छवि पर भूल,
आज तक जान न पाया नारि !
मोहिनी इस माया का मूल ।

न छू सकते जिसको हम देवि !
कल्पना वह तुम अगुण, अमेय;
भावना अन्तर की वह गूढ़,
रही जो युग-युग अकथ, अगेय ।

तैरती स्वप्नों में दिन - रात
मोहिनी छवि-सी तुम अम्लान,
कि जिसके पीछे-पीछे नारि !
रहे फिर मेरे भिन्नक गान ।



अगुरु-धूम

कल मुझे पूजकर चढ़ा गया
अलि, कौन अपरिचित हृदय-हार ?
मैं समझ न पाई गूढ़ भेद,
भर गया अगुरु का अन्धकार ।

(१)

श्रुति को इतना भर याद, भिक्षु
गुनगुना रहा था मर्म-गान —
“आ रहा दूर से मैं निराश
तुम दे पाओगी तृप्ति-दान ?
यह प्रेम-बुद्ध के लिए भीख
चाहिए नहीं धन, रूप, देह,
मैं याच रहा बलिदान पूर्ण,
है यहाँ किसी में सत्य-स्नेह ?
पुरनारि ! तुम्हारे ग्राम - बीच
भगवान पड़े हैं निराहार ।”
मैं समझ पाई न गूढ़ भेद,
भर गया अगुरु का अन्धकार ।

(२)

सिहरा जानें क्यों, मुझे देख ?
बोला—“पूजेगी आज आस ;
पहचान गया मैं सिद्धि देवि !
हो तुम्हीं यज्ञ का शुचि हुताश।
मैं अमित युगों से हेर रहा,
देखी न कभी यह विमल कान्ति,
ऐसी स्व-पूर्ण भ्रू-बँधी तरी,
ऐसी अमेय, निर्मोघ शान्ति।

नभ-सदृश चतुर्दिक् तुम्हें घेर
छा रहे प्रेम-प्रभु निराकार।”
मैं समझ न पाई गूढ़ भेद,
भर गया अगुरु का अन्धकार।

(३)

अपनी छवि में मैं आप लीन
रह गई विमुख, करते विचार—
‘वाणी प्रशस्ति की नई सीख
आया फिर कोई चाटुकार।’
पर वीतराग - निभ चला भिन्न,
रचकर मेरा अर्चन - विधान;
कह, “चढ़ा चुका मैं पुष्प, अधिक
अब और सिद्धि क्या मूल्यवान ?

फिर कभी खोजने आऊँगा, पद
पर जो रख जा रहा प्यार।”

मैं समझ न पाई गूढ़ भेद ,
भर गया अगुरु का अन्धकार ।

(४)

“अब और सिद्धि क्या मूल्यवान् ?”
मैं चौंक उठी सहसा अधीर ;
फट गया गहन मन का प्रमाद ,
आ लगा वहि का प्रखर तीर ।
उठ विकल धूम के बीच दौड़
बोलूँ जबतक “ठहरो किशोर ।”
तबतक स्व-सिद्धि को शिला जान
था चला गया साधक कठोर ।

मैंने देखा वह धूम-जाल ,
मैंने पाया वह सुमन-हार ;
पर, देख न पाई उन्हें सजनि !
भर गया अगुरु का अन्धकार ।

(५)

तुम तो पथ के चिर-पथिक भिक्षु !
कब ले सकते किस घर विराम ?
मैं ही न हाथ, पहचान सकी
करगत जीवन का स्वर्णयाम ।
है तृषित कौन ? है जलन कहाँ ?
मेघों को इसका नहीं ध्यान ;
यह तो मिट्टी का भाग्य, कभी
मिल जाता उसको अमृत-दान ।

फिरता न कभी मधुमास वही
शत हृदय खिलाकर एक बार;
मैं समझ न पाई गूढ़ भेद,
भर गया अगुरु का अन्धकार।

(६)

चरणों पर कल जो चढ़ा गए
तुम देव ! हृदय का मधुर प्यार,
मन में, पुतली में उसे सजा
मैं आज रही धो बार-बार;
जो तुम्हें एक दिन देख नहीं
पाई अपने भ्रम में विभोर,
आकर सुन लो दुक आज उसी
पाषाणी का क्रन्दन किशोर !

छिपकर तुम पूज गए उस दिन,
छिपकर उस दिन मैं गई हार;
पर छिपा सकेगा अश्रु-ज्योति
क्या आज अगुरु का अन्धकार ?

(७)

कल छोड़ गए जो दीप द्वार पर,
उर पर वह आसीन आज;
साधना - चरण की रेणु - हेतु
है विकल सिद्धि अति दीन आज;

मन की देवी को फूल चढ़ा,
चाहिए तुम्हें कुछ नहीं और;
पर, विजित सिद्धि के लिए कहाँ
साधक - चरणों के सिवा ठौर ?

मैं भेद न सकती तिमिर-पुंज,
तुम सुन सकते न करुण पुकार;
साधना - सिद्धि के बीच हाथ,
छा रहा अगुरु का अन्धकार ।

(८)

मैं रह न गई मानवी आज,
देवी कह तुमने की न भूल;
अन्तर का कञ्चन चमक उठा,
जल गया मैल, भर गई धूल;
नव दीप्ति लिए नारीत्व जगा
यह पहन तुम्हारी विजय-माल;
कुछ नई विभा ले फूल उठी
जीवन - विटपी की डाल - डाल ।

देखे जग मुझमें आज स्त्रीत्व
का महामहिम पूर्णवतार;
मैं खड़ी, चतुर्दिक् मुझे घेर
छा रहा अगुरु का अन्धकार ।

(९)

कल सौंप गए जो मुझे प्रेम,
देखो उसका शृङ्गार आज;

मैं कनक - थाल भर खड़ी, बुद्ध-
हित ले जाओ उपहार आज ;
सब भूल गई, कुछ याद नहीं
तरुणी के मद की बात आज ;
आओ, पग छू हो जाऊँगी
रमणी मैं रातों - रात आज ।

माँ की ममता, तरुणी का व्रत,
भगिनी का लेकर मधुर प्यार,
आरती त्रिवर्तिक सजा, करूँगी
भिन्न अगुरु का अन्धकार ।

बह रही हृदय - यमुना अधीर
भर, उमड़ लबालब कोर - कोर,
आओ, कर लो नौका - विहार,
लौटो भिच्छुक, लौटो किशोर !



रास की मुरली

अभी तक कर पाई न सिँगार,
रास की मुरली उठी पुकार।

(१)

गई सहसा किस रस से भींग
वकुल-वन में कोकिल की तान ?
चाँदनी में उमड़ी सब ओर
कहाँ के मद की मधुर उफान ?
गिरा चाहता भूमि पर इन्दु
शिथिलवसना रजनी के संग ;
सिहरते पग सकता न सँभाल
कुसुम-कलियों पर स्वयं अनंग !
ठगी - सी रुकी नयन के पास
लिये अञ्जन उँगली सुकुमार,
अचानक लगे नाचने मर्म,
रास की मुरली उठी पुकार।

(२)

रास की मुरली उठी पुकार।
सौँझ तक तो पल गिनती रही,
कहीं तब डूब सका दिनमान ;

आँजने जिस क्षण बैठी आँख,
मधुर वेला पहुँची यह आन ।
सुहागिनियों में चुनकर एक
मुझे ही भूल गए क्या श्याम ?
बुलाने को न बजाया आज
बाँसुरी में दुखिया का नाम ।
बिताऊँ आज रैन किस भोंति ?
पिन्हाऊँ किसे यूथिका-हार ?
धरूँ कैसे घर बैठे धीर ?
रास की मुरली उठी पुकार ।

(१३)

रास की मुरली उठी पुकार ।

उठी उर में कोमल हिल्लोल
मोहिनी मुरली का सुन नाद,
लगा करने कैसे तो हृदय,
पड़ी जानें कैसी कुछ याद !
सकूँगी कैसे स्वयं सँभाल
तरङ्गित यौवन का रसवाह ?
ग्रन्थि के ढीले कर सब बन्ध
नाचने को आकुल है चाह ।
डोलती श्लथ कटि-पट के संग,
खुली रशना करती झनकार,
न दे पायी कङ्कन में कील,
रास की मुरली उठी पुकार ।

(४)

रास की मुरली रही पुकार ।
छोड़ दौड़ो सब साज - सिँगार,
रास की मुरली रही पुकार ।

अरी भोली मानिनि ! इस रात
विनय-आदर का नहीं विधान,
अनामन्त्रित अर्पण कर देह
पूर्ण करना होगा वलिदान ।

आज द्रोही जीवन का पर्व,
नग्न उल्लासों का त्योहार ;
आज केवल भावों का लग्न,
आज निस्फल सारे शृङ्गार ।

अलङ्कृत पद का आज न श्रेय,
न कुंकुम की बेंदी अभिराम,
न सोहेगा अधरों में राग,
लोचनों में अंजन घनश्याम ।

हृदय का संचित रंग उँड़ेल
सजा नयनों में अनुपम राग,
भीँगकर नख-शिख तक सुकुमारि
आज करलो निज सुफल सुहाग ।

पहन कर केवल मादक रूप
किरण - वसना परियों-सी नग्न

नीलिमा में हो जाओ बाल,
तारिकामयी प्रकृति - सी मग्न ।

यूथिका के ये फूल बिखेर
पुजारिन ! बनो स्वयं उपहार,
पिन्हा बाँहों के मृदुल मृणाल
देवता की ग्रीवा का हार ।

खोल बाँहें आलिङ्गन—हेतु
खड़ा सङ्गम पर प्राणाधार;
तुम्हें कङ्कन - कुंकुम का मोह,
और यह मुरली रही पुकार ।

(५)

रास की मुरली रही पुकार ।

महालय का यह मंगल-काल,
आज भी लज्जा का व्यवधान ?
तुम्हें तनु पर यदि नहीं प्रतीति,
भेज दो अपने आकुल प्रान ।

कहीं हो गया द्विधा में शेष
आज मोहन का मादक रास,
सफल होगा फिर कब सुकुमारि !
तुम्हारे यौवन का मधुमास ?

रही बज आमन्त्रण के राग
श्याम की मुरली नित्य-नवीन,

विकल-सी दौड़-दौड़ - प्रतिकाल
सरित हो रही सिन्धु में लीन ।

रहा उड़ तज फेनिल अस्तित्व
रूप पल - पल अरूप की ओर,
तीव्र होता ज्यों - ज्यों जयनाद,
बढ़ा जाता मुरली का रोर ।

सनातन महानन्द में आज
बाँसुरी — कङ्कण एकाकार,
बहा जा रहा अचेतन विश्व,
रास की मुरली रही पुकार ।

() ()
()

मानवती

रूठ गई अबकी पावस के पहले मानवती मेरी,
की मैं ने मनुहार बहुत, पर, आँख नहीं उसने फेरी ।
वर्षा गई, शरत आया, जल घटा, पुलिन ऊपर आये,
बसे बबूलों पर खगदल, फुनगी पर पीत कुसुम छाये ।
आज चाँदनी देख न जानें मैं ने क्यों ऐसे गाया—
“अब तो हँसो मानिनी मेरी, वर्षा गई, शरत आया ।

“तारों के श्रुति - फूल मनोहर,
कलियों का कंकन सुन्दर है ।
मानिनि ! यह तो चीर तुम्हारा,
तना हुआ जो नीलाम्बर है ।

“चलो, करो शृङ्गार, बुलाती तुम्हें खंजनों की टोली,
आमंत्रित कर रही विपिन की कली तुम्हारी हमजोली ।
“उलर रही मंजरी कास की, हवा भूमती आती है,
राशि-राशि अवली फूलों की एक ओर झुक जाती है ।
“उगा अगस्त्य, उतर आया सरसी में निर्मल व्योम सखी ,
भल्लमल-भल्लमल काँप रहे हैं जल में उडु औ’ सोम सखी ।

“दिन की नई दीप्ति; हरियाली—
पर नूतन शोभा छाई है ,
पावस - धौत धरा पर मानों,
चढ़ी नई यह तरुणाई है ।

“आज खेलने नहीं चलोगी रानी, कासों के वन में ?”
बोली कुछ भी नहीं, लोभ उपजा न मानिनी के मन में ।

“रानी, आधी रात गई है,
घर है बन्द, दीप जलता है;
ऐसे समय रूठना प्यारी का
प्रिय के मन को खलता है ।

मना रहा, ‘आनन्द-सूत्र में ग्रन्थ डाल रोओ न लली !
ये मधु के दिन, इन्हें अकारण रूठ-रूठ खोओ न लली !
तुम सखि, इन्द्रपरी के तन में सावित्री का मन लाई,
ताप-तप्त मरु में मेरे हित शीत - स्निग्ध जीवन लाई ।
जीवन के दिन चार, अवधि उससे भी अल्प जवानी की,
उस पर भी कितनी छोटी निशि होती प्रणय-कहानी की ?
हम दोनों की प्रथम रात यह, आज करो मत मान प्रिये !
मिट न सकेगी कसक कभी, यदि योंही हुआ विहान प्रिये ।’

रानी, यह कैसी विपत्ति है ?
जिस पर बीते, वही बखाने;
प्रिये, मान अपना तज कर द्रुत,
उस मानिनि को चलो मनाने ।

चलो शीघ्र, पौ फटे नहीं, उग जाय न कहीं अरुण-रेखा ।”
मानवती ने भ्रू समेट कर मेरी ओर तनिक देखा ।

“प्रासादों से घिरी कुटी में
चिन्ता - मग्न खड़ी कविजाया

कोस रही वाणी के सुत को—

‘टका सत्य है औ’ सब माया ।

गहनों से शोभा बढ़ती है, उदरपूर्ति है अन्नों से,
तुम्हें न जाने क्या मिलता लिपटे रहने में पत्रों से ।
सुस्थिर हो दो बात करें, यह भी बाकी अरमान मुझे,
ऐसा कुछ क्या दे रक्खा, चाँदी सोने का खान मुझे ?

गिरती कठिन गाज-सी सिर पर ,

कवि का हृदय दहल जाता है ;

आँसू पी, बरबस हँस - हँसकर

प्राण - प्रिया को समझाता है—

‘बना रखूँ पुतली दृग की, निर्धन का यही दुलार सखी !
स्वप्न छोड़ क्या पास, तुम्हारा जिससे करूँ सिंगार सखी !
कहाँ रखूँ ? किस भाँति ? सोच यह तड़पा करता प्यार सखी !
नयन मूँद उर से चिपका लेता आखिर लाचार सखी !

घासपात की कुटी हमारी ,

किन्तु, तुम्हीं इसकी रानी हो ;

क्या न तुम्हें संतोष किसी

कवि की वरदा तुम कल्याणी हो ?

जलती हुई धूप है तो आँगन में वट की छाँह सखी !
व्यजन करूँ, सोओ सिर के, नीचे ले मेरी बाँह सखी !
‘जरा पैठ मेरे अन्तर में सुनो प्रणय-गुंजार सखी !
देखो, मन में रचा तुम्हारे हित कैसा संसार सखी !’

यह अचरज मानिनि, तो देखो,

बुधा सौँत भोली कविता की ;

उलझ रही मकड़ी-जाली में
ज्योति परम पावन सविता की।

कलियाँ हृदय चीर टहनी का खिलने को अकुलाती हैं,
सह सकतीं न जलन, बाहर आते-आते जल जाती हैं।

धूम रही कल्पना अकेली
जग से दूर इन्द्र के पुर में,
कविजाया ने स्वर्ग न देखा
बसता जो प्रियतम के उर में।
अन्तर्दास रूप निज प्रिय का
ग्रामबधू कैसे पहचाने ?
वाणी भी भिन्नणी जगत में,
वह सीधी-भोली क्यों माने ?

जीवन की रसवृष्टि (पंक्ति कविवर की) क्यों चाँदी न हुई ?
कविजाया कहती, लक्ष्मी क्यों कविता की बाँदी न हुई ?

खोज रही आनन्द कल्पना
दूब , लता , गिरिमाला में,
कल्पक के शिशु भुलस रहे हैं
इधर पेट की बाला में।

जिसके मूर्त्ति स्वप्न भूखे हों, वह गायक कैसे गाए ?”
मानवती चुप रही, दृगों में करुणा के बादल छाए।



नारी

[१]

पहन नील, किर्मीर वसन, तितली-से पंख लगाए,
उर-गृह से बाहर आकर तुम किसको ढूँढ़ रही हो ?
भ्रू की रेखा सजा, राग से रँग कपोल-अधरों को,
मुकुर देख खिलखिला रही हो किस आसन्न विजय से ?
निरावरण, उद्दाम किरण-सी खिलती और मचलती,
आज दीखती नहीं समाती हुई आप अपने में।
अपना चित्र विविध रंगों में आप सृजन करती हो,
और जाँचती हो फिर उसको स्वयं पुरुष के दृग से।
दर्पण में, रंगों में, नर की भ्रमित-लुब्ध आँखों में,
देख रही सब में अपने को क्रम से बिठा-बिठा कर।
दाँतों-तले अधर को दाबे, कसे उबलते मन को,
चलती हो ऐसे कि, देखती ही व्योँ नहीं किसी को।
लेकिन, सब को बचा काम करनेवाले वे लोचन
कहते हैं, तुम बिन देखे देखा करती बहुतों को।
तुम्हें ध्यान रहता कि पीठ सहलातीं कितनी आँखें,
बँधे चले आते कितने मन छलकी हुई लटों से।
मनःस्पर्श करती बहुतों का बलखाती चलती हो,
गिनती हो मन-ही-मन, लोहू काँप गया कितने का ?

सच है, अभी बगल से गुजरी तुम लालसा-लहर-सी,
मन मेरा रँग गया, गंध से मन्द पवन भी महका।

किन्तु, हाय, तुममें बसनेवाली की यही समर्चा ?
 इतनी ही पूजा ? इतना ही क्या नैवेद्य-समर्पण ?
 राग - रंग की हवा उड़ाये दूर लिए जाती है
 तुम्हें, तुम्हारे सहज प्रमद-वन से उद्भ्रान्त सुरभि-सी ।
 वह वन, जिसमें कभी तितलियाँ पंख नहीं रँगती हैं ;
 औ' गुलाब सुरभित होने को गंध न मोल मँगाता ।
 रूप और यौवन पत्तों-से उड़ते नहीं हवा में,
 मनका बन्धन मान कठिन उद्देश्य सिद्ध करते हैं ।

जनाकीर्ण संसार-बीच कितने का मन बाँधोगी ?
 निरुद्देश्य बेधोगी चलते राह हृदय किस-किसका ?
 नहीं जानती हो, जितनी है हल्की चोट तुम्हारी,
 उससे भी हल्की है इन बिंधनेवालों की पीड़ा ।
 वज्र-लेख यह नहीं सुन्दरी, जिस पर गर्व करो तुम,
 आती और चली जाती हो जल पर की रेखा-सी ।
 जगा नहीं सकती यह जल की रेखा प्राण-पुरुष को,
 जिसे छेड़ तुम हँसती हो वह चर्म-कंप है केवल ।
 पुरुष वज्र-लेखन का भूखा, सो वह लिखनेवाली
 सात पत्थरों के नीचे है दबी अभीतक तुम में ।
 तुम जितना विभ्रम करती, वह आकुल होती उतनी,
 जितना व्यर्थ बनाव, क्षीण उतनी होती जाती है ।
 मृषा-रभस के कोलाहल से प्राण विकल हैं उसके ;
 सारहीन चुम्बन से उसका दम घुटता जाता है ।
 कौतुक-हास-विलास-रभस की अयि सजीव प्रतिमाओ !
 देखो निज में भाँक कभी उस म्लानमुखी नारी को ।

(२)

लज्जा, शील, सजीव धर्म की एक मूर्ति सकुचाती,
बैठी है गाड़ी के कोने में सिमटी गठरी-सी।
बड़ी सावधानी से अपने को हर तरह छिपाये,
तन को, मन को और हाथ-पैरों की उँगली को भी।
तब भी कुछ बेचैन हुई-सी बार-बार हिलती है,
आँखों की जलती किरणें, शायद, चुभती हैं उसको।
डरी हुई हरिनी-सी वह मन - ही - मन काँप रही है,
अब भी ज्यों सम्यक्-रक्षित सर्वस्व लुटा जाता हो।

उसकी अंतःकली खिली शीतल तम की छाया में,
नहीं देख सकती वह दिन की खुली धूप को सुख से।
वह प्रकाश-वंचित युग से, है उसका क्षीण मनोबल,
प्रत्यय नहीं रहा अब उसको अपने तेज प्रखर का।
लुब्ध-दृष्टि-विशिखों से बच डरती-सी वह चलती है,
नहीं सामना कर सकती उनका निज प्रखर बिभा से।
वह समाज की विवश बन्दिनी सब कुछ छोड़ चुकी है ;
बचा रखा है केवल उसने एक शील नारी का।
यही परम सर्वस्व, जिसे वह आतुर सदा छिपाती,
पटावरण के भीतर तन में, तन के भीतर मन में।
सुख पाती है देख पूर्ण छवि अपनी इसी मुकुर में,
डरती है लग जाय न इस पर मल जग की आँखों का।
वंचित वह उस नई ज्योति से, जिससे ऐसे दर्पण
बहुत बार मैले होते औ' बहुत बार धुलते हैं।

काँप रही शंकिता मृगी-सी वह सिकुड़ी-सिमटी भी,
जी करता है अपना पौरुष, इज्जत उसे उड़ा दूँ।
याकि जगा दूँ उसके भीतर की उस लाल शिखा को,
आँखों में जिसके बलने से दिशा काँप जायेगी।
घोर ग्लानि से झुक जायेंगे नयन घूरने वाले,
झुक जायेंगी कलुष-ज्ञान से दबी, हीण ग्रीवाएँ।

दूर करो मुख से इस पट को, हे कुलबधू पुनीते !
इससे कहीं सघन घूँघट है मनस्तेज की तुम में।
ओढ़ो उसे, मनोबल का वह दिव्य फलक है ऐसा,
हिम्मत नहीं, तुम्हें देखे कोई कुत्सित आँखों से।
मन का प्रखर तेज-पट ओढ़े तुम निःशंक चलोगी;
जहाँ रहोगी वहाँ पुण्य की प्रभा रहेगी घेरे।
नर में जो मल-पुंज कौतुकी कायर दनुज छिपा है,
बालावरण देख नत होगा, तुम से स्वयं डरेगा।

(३)

आँखों में गीली काजल; लंबी रेखा सेंदुर की
नासिकाग्र से चली गई है ऊपर चीर चिकुर को—
सीधी रेख बना; कच दोनों ओर सजे हैं ऐसे,
फट कर दी हो राह तिमिर ने जैसे किसी किरण को।
पहुँची पर हैं नई चूड़ियाँ; रंगी हुई अलता से
हाथों की उँगलियाँ दीखतीं लाल-लाल कोंपल-सी।
तन पर पीला वसन, ज्योति पीली कुम्हलाये मुख की,
माँ बन कर रमणी प्रसूति-गृह से तुरन्त निकली है।
कई दिनों की छाया और धुआँ से वह कुम्हलाई,
कच्ची धूप-सदृश लगती है कुछ-कुछ गीली-गीली।

अंगों में अब शेष नहीं पहले की सरल चपलता ;
सबके सब दायित्व-ज्ञान से कुछ-कुछ दबे हुए हैं ।
वाणी संयमशील, धीरता है भर गई पदों में ,
आँखों के संकोच, शील में गौरव भर आया है ।

शरमाती पैठी थी उत्सुक बधू प्रसूति-सदन में ,
निकली है लेकर पुनीत, गंभीर हृदय माता का ।
जब से उज्ज्वल प्रेम उमड़ आँचल में फूट पड़ा है ,
एक सरल संतोष भलकता है उसके आनन पर ।

अंचल के सुकुमार फूल को वह यों देख रही है ,
फूट रही हो धार दूध की ही ज्यों भरे नयन से ।
'वीर, धनी, विद्वान्, ग्राम का नायक, विश्व-विजेता ,'
अपनी गोदी-बीच आज वह क्या क्या देख रही है ?
शत-सहस्र ये अभिलाषाएँ, अब तक छिपी कहाँ थीं ,
जाग पड़ी हैं जो कि देखते नन्हें स्तनपायी को ?

माँ बनते ही ध्येय जन्म का उसको भलक गया है ,
घूम रही थी दूर-दूर, आ गई निकट जीवन के ।
जीवन समझ रखा था उसने क्रीड़ा-कुतुक-प्रणय को ,
समझ रही अब इन सबसे भी परे तत्व है कोई ।
लय, सुर, ताल, लोच से जिसके अबतक भ्रूम रही थी ,
आज रहे खुल कठिन अर्थ हैं उस अद्भुत् गायन के ।
ऊपर - ही - ऊपर तिरनेवाली निर्बन्ध परी के
पहले-पहल चरण दोनों मिट्टी से आन लगे हैं ।
समझ रही वह आज बोझ जीवन का है उस पर भी ,
महाविश्व को जीवित रखने की वह भी दायी है ।

सीधा नहीं योग नारी का जग के संघर्षों से ;
 बेटों के मुख से अपना संदेश कहा करती है ।
 (पुरुष-धर्म, जूके संगर में अपने तेजोबल से ,
 नारी की करबाल महत्तम है उसका बेटा ही ।
 माँ के दिल की आग चमकती है बेटे की असि में ;
 कहना है जो कुछ उसको वह पुत्र कहा करते हैं ;
 नारी की पूर्णता पुत्र को स्वानुरूप करने में ,
 करते हैं साकार पुत्र ही माता के सपने को ।
 बिना पुत्र नारी का सम्यक् रूप नहीं खुल पाता ,
 जीवन में रमणी प्रवेश करती है माता बन कर ।

काश ! समझतीं जन्मनिरोधातुर कृत्रिम बन्ध्याएँ ,
 पुत्र-कामना इच्छा है अपने को ही पाने की ।



पुरुष-प्रिया

मैं तरुण भानु-सा अरुण, भूमि पर
उतरा रुद्र - विषाण लिये ,
सिर पर ले वह्नि-किरीट, दीप्ति का
तेजवन्त धनु - बाण लिये ।

स्वागत में डोली भूमि, अस्त
भूधर ने हाहाकार किया ,
वन की विशीर्ण अलकें भकोर
भंभा ने जयजयकार किया ।

नाचती चतुर्दिक् घूर्णि चली ,
मैं जिस दिन चला विजय-पथ पर ;
नीचे धरणी निर्वाक् हुई ,
सिहरा अशब्द ऊपर अम्बर ।

मुक्ता ले सिन्धु शरण आया
मैंने जब किया सलिल-मन्थन ,
मेरे इङ्गित पर उगल दिये
भू ने उर के फल, फूल, रतन ।

दिग्विदिक् सृष्टि के पर्ण-पर्ण पर
मैंने निज इतिहास लिखा,
दिग्विदिक् लगी करने प्रदीप्त
मेरे पौरुष की अरुण शिखा ।

मैं स्वर्ग - देश का जयी वीर,
भू पर छाया शासन मेरा ;
हाँ, किया वहन नतभाल, दमित
मृगपति ने सिंहासन मेरा ।

कर दलित चरण से अद्रि-भाल,
चीरते विपिन का मर्म सघन,
मैं विकट, धनुर्धर, जयी वीर
था घूम रहा निर्भय रन-वन ।

उर के मन्थन की दर्द - भरी
घड़ियों से थी पहचान नहीं,
सुमनों से हारे भीम शैल,
तबतक था इतना ज्ञान नहीं ।

चूमे जिसको झुक अहङ्कार,
वह कली, स्यात् , तबतक न खिली;
जत हो अनल-किरीट, चाँदनी
तबतक थी ऐसी न मिली ।

सहसा आई तुम मुझ अजेय को
हँसकर जय करनेवाली,
आधी मधु, आधी सुधा - सिक्त
चितवन का शर भरनेवाली ।

मैं युवा सिंह से खेल रहा था
एक प्रात निर्भर - तट पर,
तुम उगी तीर पर माया-सी
लघु कनक-कुम्भ साजे कटि पर ।

लघु कनक-कुम्भ कटि पर साजे,
दृग - बीच तरल अनुराग लिये ;
चरणों में ईषत अरुण, क्षीण
जलधौत अलक्तक-राग लिये ।

सद्यःस्नाता, मद - भरित, सिक्त
सरसीरुह की अम्लान कली,
अक्षता, सद्य पाताल - जनित
मदिरा की निर्भरिणी पतली ।

मैं चकित देखने लगा तुम्हें,
तुमने विस्मित मुझको देखा ;
पल - भर हम पढ़ते रहे पूर्व—
युग का विस्मृत, धूमिल लेखा ।

तुम नई किरण - सी लगी, मुझे
सहसा अभाव का ध्यान हुआ,
जिस दिन देखा यह हरित स्रोत,
अपने ऊसर का ज्ञान हुआ।

मैं रहा देखता निर्निमेष, तुम
खड़ी रही अपलक-चितवन,
नस-नस जृम्भा संचरित हुई,
संस्मृत, शिथिल उर के बन्धन।

सहसा बोली, 'प्रियतम', अधीर,
श्लथ कटि से गिरा कलस तेरा,
गिर गए त्राण, गिर गया धनुष,
सिहरा यौवन का रस मेरा।

'प्रियतम', 'प्रियतम', रसकूक मधुर
कब की श्रुत-सी, कुछ जानी-सी,
'प्रियतम', 'प्रियतम', रूपसी कौन
तुम युग-युग की पहचानी-सी ?

उमड़ा व्याकुल यौवन विबन्ध,
उर की तन्त्री भनकार उठी;
सब ओर सृष्टि में निकट - दूर
'प्रियतम', की मधुर पुकार उठी।

तुम अर्द्ध-चेतना में बोली,
 “मैं खोज थकी, तुम आ न सके,
 लद गई कुसुम से डाल, किन्तु,
 अबतक तुम हृदय लगा न सके।

“सीखा यह निर्दय खेल कहाँ ?
 तुम तो न कभी थे निठुर पिया।”,
 मैं चकित, भ्रमित कुछ कह न सका,
 मुख से निकले दो वर्ण, ‘प्रिया’।

दो वर्ण ‘प्रिया’, यह मधुर नाम
 रसना की प्रथम ऋचा निर्मल,
 उल्लसित हृदय की प्रथम बीचि,
 सुरसरि का विन्दु प्रथम उज्ज्वल।

नर की यह चकित पुकार ‘प्रिया’,
 जब पहली दृष्टि पड़ी रानी,
 जिस दिन मन की कल्पना उतर
 भू पर हो गई खड़ी रानी।

विस्मय की चकित पुकार ‘प्रिया’,
 जब तुम नीलिमा गगन की थी;
 जब कर-स्पर्श से दूर अगुण
 रस-प्रतिमा स्वप्न-मगन की थी;

जब पुरुष-नयन में बह्नि नहीं,
था विस्मय-जड़ित कुतुक केवल;
जब तुम अचुम्बिता, दूर-ध्वनित
थी किसी सुरा का मद-कलकल।

विस्मय की चकित पुकार 'प्रिया',
जिस दिन तुम थी केवल नारी;
नर की ग्रीवा का हार नहीं भुज-
बँधी वल्लरी सुकुमारी।

दो वर्ण, 'प्रिया', यह नाद उषा
सुनती शिखरों पर प्रथम उतर;
दो वर्ण 'प्रिया', कुछ मन्द-मन्द
इस ध्वनि से ध्वनित गहन अम्बर।

दो वर्ण 'प्रिया', संध्या सुनती
भ्रुक अतल मौन सागर-तल में;
सुन-सुनकर हृदय पिघल जाता
इसका गुञ्जन दृग के जल में।

सुन रहीं दिशाएँ मौन खड़ी,
सुन रही मग्न नभ की बाला;
सुन रहे चराचर, किन्तु, एक
सुनता न पुरुष कहनेवाला।

अकलङ्क प्राण का सम्बोधन
 सुनते जो कर्ण अजान प्रिये,
 तो पुरुष-प्रिया के बीच आज
 मिलता न एक व्यवधान प्रिये ।

व्यवधान वासना का कराल
 जगते जो आग लगाती है ;
 जो तप्त शाप-विष फूँक सरल
 नयनों को हिंस्र बनाती है ।

उन आँखों का व्यवधान, ज्ञात
 जिनको न रहस्यों का गोपन,
 देखा कुछ कहीं कि कह आतीं
 सब कुछ प्राणों के भवन-भवन ।

उत्सुक नर का व्यवधान, शृङ्ग
 लख जिसे सूक्तों आरोहण ;
 जल-राशि देख संतरण और
 वन सघन देखकर अन्वेषण ।

अम्बर का देख वितान उड़ा,
 'यह नील-नील ऊपर क्या है ?'
 मिट्टी खोदी यह सोच, "गुप्त
 इस बसुधा के भीतर क्या है ?"

जिस दिवस अवारित प्रेम-सदन में
विस्मित, चकित पुरुष आया,
माणिक्य देख धीरता तजी,
मुक्ता - सुवर्ण पर ललचाया।

क्या ले, क्या छोड़े, रत्नराशि का
भेद नहीं लघु जान सका,
वह लिया कि जिसमें तृप्ति नहीं,
पाना था जो वह पा न सका।

पा सका न मन का द्वार, लुब्ध
भग चला कुसुम का तन लेकर,
ग्रीवा-विलसित मन्दार-हार का
दलन किया चुम्बन लेकर।

जीवन पर प्रसरित खिली चाँदनी
को पीने की चाह इसे,
शशि का रस सकल उँड़ेल बुझे
वह कठिन, चिरन्तन दाह इसे।

तरुणी-उर को कर चूर्ण खोजने
लगा सुरभि का कोष कहाँ ?
प्रतिमा विदीर्ण कर ढूँढ़ रहा,
वरदान कहाँ ? संतोष कहाँ ?

खोजते मोह का उत्स पुरुष ने
 सारी आयु वृथा खोई ;
 इससे न अधिक कुछ जान सका
 तुम - सा न कहीं सुन्दर कोई ।

सब ओर तीव्र-गति घूम रहा
 युग-युग से व्यग्र पुरुष चंचल,
 तुम चिर-चञ्चल के बीच खड़ी
 प्रतिमा-सी सस्मित, मौन, अचल ।

सुन्दर थी तुम जब पुरुष चला,
 सुन्दर अब भी जब कल्प गया ;
 जा रहा सकल श्रम व्यर्थ, नहीं
 मिलता आगे कुछ ज्ञान नया ।

जब-जब फिर आता पुरुष श्रान्त,
 तब तुम कहती रसमग्न 'प्रिया !'
 मिलती न उसे फिर बात नई,
 मुख से कढ़ते दो वर्ण, 'प्रिया !'



गीत

उरकी यमुना भर उमड़ चली,
तू जल भरने को आ न सकी ;
मैं ने जो घाट रचा सरले !
उस पर मंजीर बजा न सकी ।

दिशि-दिशि उँड़ेल विगलित कंचन,
रँगती आई संध्या का तन,
कटि पर घट, कर में नील वसन ;
कर नमित नयन चुपचाप चली,
ममता मुझ पर दिखला न सकी ;
चरणों का धो कर राग नील-
सलिला को अरुण बना न सकी ।

लहरें अपनापन खो न सकीं,
पायल का शिजन ढो न सकीं,
युग चरण घेरकर रो न सकीं ;
विवसन आभा जलमें बिखेर
मुकुलों का बन्ध खिला न सकी ;
जीवन की अथि रूपसी प्रथम !
तू पहिली सुरा पिला न सकी ।



अन्तर्वासिनी

अधखिले पद्म पर मौन खड़ी
तुम कौन प्राण के सर में री ?
भींगने नहीं देती पद की
अरुणिमा सुनील लहर में री ?
तुम कौन प्राण के सर में ?

- १ -

शशि-मुख पर दृष्टि लगाये
लहरें उठ घूम रही हैं,
भयवश न तुम्हें ब्रू पातीं
पंकज - पद चूम रही हैं ;
गा रहीं चरण के पास विकल
छवि-विम्ब लिए अन्तर में री ।
तुम कौन प्राण के सर में ?

- २ -

कुछ स्वर्ण-चूर्ण उड़-उड़ कर
छा रहा चतुर्दिक मन में,
सुरधनु - सी राज रही तुम
रञ्जित, कनकाभ गगन में ;
मैं चकित, मुग्ध, हतज्ञान खड़ा
आरती - कुसुम ले कर में री ।
तुम कौन प्राण के सर में ?

- ३ -

जब से चितवन ने फेरा
मन पर सोने का पानी,
मधु - वेग ध्वनित नस-नस में,
सपने रँग रही जवानी;
भू की छवि और हुई तब से
कुछ और विभा अम्बर में री।

तुम कौन प्राण के सर में ?

(४)

अयि सगुण कल्पने मेरी !
उतरो पंकज के दल से ,
अन्तःसर में नहलाकर
साजूँ मैं तुम्हें कमल से ;
मधु-तृषित व्यथा उच्छ्वसित हुई ,
अन्तर की लुधा अधर में री।

तुम कौन प्राण के सर में ?



पावस-गीत

दूर देश के अतिथि व्योम में छाये घन काले सजनी,
अङ्ग-अङ्ग पुलकित वसुधा के शीतल, हरियाले सजनी ।

भींग रहीं अलकें संध्या की, रिमक्तिम बरस रहे जलधर,
फूट रहे बुलबुले याकि मेरे दिल के छाते सजनी ?

किसका मातम ? कौन बिखेरे बाल आज नभ पर आई ?
रोई यों जी खोल, चले वह आँसू के नाले सजनी ।

आई याद आज अलका की, किन्तु, पन्थ का ज्ञान नहीं,
विस्मृत पथ पर चले मेघ दामिनी-दीप बाले सजनी ।

चिर-नवीन कवि-स्वप्न, यत्न के अब भी दीन, सजल लोचन;
उत्कण्ठित विरहिणी खड़ी अब भी भूला डाले सजनी ।

बुझती नहीं जलन अन्तर की; बरसें दृग, बरसें जलधर;
मैंने भी क्या हाय, हृदय में अंगारे पाले सजनी !

धुलकर हँसे विश्व के तृण-नृण; मेरी ही चिन्ता न धुली ;
पल - भर को भी हाय, व्यथाएँ टलीं नहीं ढाले सजनी ।

किन्तु, आज क्षिति का मङ्गल-क्षण; यह मेरा क्रन्दन कैसा ?
गीत-मग्न घन-गगन; आज तू भी मलार गा ले सजनी ।

कत्तिन का गीत

कात रही सोने का गुन चाँदनी रूप-रस-बोरी ;
कात रही रुपहरे धाग दिनमणि की किरण किशोरी ।
धन का चरखा चला इन्द्र करते नव जीवन-दान ;
तार-तार पर मैं काता करती इज्जत - सम्मान ।

हरी डार पर श्वेत फूल; यह तूल-वृक्ष मन भाया ;
श्याम हिन्द हिम-मुकुट-विमण्डित खेतों में मुसकाया ।
श्वेत कमल-सी रूई मेरी; मैं कमला महारानी ;
कात रही किस्मत स्वदेश की क्षीरोद्धि की रानी ।

यह घर्घर का नाद, कि चरखे की बुलबुल की लय है ?
यह रूई का तार, कि फूटा जग-जननी का पय है ?
धाग-धाग में निहित निःस्व, रिक्तों का धन-संचय है ;
तार-तार पर चढ़ कर चलती कोटि-कोटि की जय है ।

बोल काठ की बुलबुल, मुँह का कौर न रहे अलोना ;
सैटिन पर बह जाय नहीं पानी-सा चाँदी-सोना ।
एक तार भी कात सुहागिन, यह भी नहीं अकाज ;
स्थात् , छिपा दे यही नग्न के किसी रोम की लाज ।

मधुर चरखे का घर्घर गान ;
देश का धाग-धाग कल्याण ।



मरण

लगी खेलने आग प्रकट हो
थी विलीन जो तन में ;
मेरे ही मन के पाहुन
आये मेरे आँगन में ।

बन्धैं काट बोला यों धीरे
मुक्ति-दूत जीवन का—
‘विहग, खोलकर पंख आज
उड़ जा निर्बन्ध गगन में ।

पुण्य-पर्व में आज सुहागिनि !
निज सर्वस्व लुटा दे ,
माँग रहे मुँह खोल पिया
कुछ प्रथम-प्रथम जीवन में ।

आज कहाँ की लाज बावली ?
खोल, चीर-पट तन से ,
रहे न टुक व्यवधान, नग्न
घुल-मिल जा कनक-किरण में ।

देख रहा हूँ स्वप्न बीज
ऋतुपति का हिम के नीचे,
छिपी हुई गोतीत-विभा त्यों
कोलाहल - क्रन्दन में।

उठी यवनिका आज तिमिर की,
अंकुर उगा विभा का;
चमक उठी वह पगडंडी जो
प्रिय के गई भवन में।

पूछ रहा था जिसकी सुधि
वन्दी ! अब तक उडुगण से,
मुक्त घूमकर खोज उसे
अब फूल - फैल त्रिभुवन में।

ठौर-ठौर हैं मरण - सरोवर
बनं पिया के मग में,
धोकर श्रान्ति, स्वस्थ हो पन्थी !
लग जा पुनः लगन में।



समय

जर्जरकाय ! विशाल !

महादनुज विकराल !

भीमाकृति ! बढ़, बढ़, कबन्ध-सा कर फैलाए;
लील, दीर्घ भुज-बन्ध बीच जो कुछ आ पाए ।
बढ़, बढ़, चारों ओर, छोड़, निज ग्रास न कोई,
रह जाए अवशिष्ट सृष्टि का हास न कोई ।

भर बुभुक्षु ! निज उदर तुच्छतम द्रव्य-निकर से,
केवल अचिर, असार, त्याग्य, मिथ्या, नश्वर से;
सब खाकर भी हाय, मिला कितना कम तुझको !
सब खोकर भी किन्तु, घटा कितना कम मुझको !

खाकर जग का दुरित एक दिन तू मदमाता,
होगा अन्तिम ग्रास स्वयं सर्वभुक् क्षुधा का ।
तब भी कमल - प्रफुल्ल रहेगा शाश्वत जीवन,
लहरायेगा जिसे घेर किरणों का सावन ।

आयेगी वह घड़ी, मलिन पट मिट्टी का तज,
रश्मि-स्नात सब प्राण तारकों से निजको सज,
आ बैठेंगे घेर देवता का सिंहासन;
लील, समय मल, कलुष कि हम पायें नवजीवन ।

वह जीवन जिसमें न जरा, रुज, क्षय का भय है,
जो निसर्गतः कालजयी है, मृत्युञ्जय है ।



आश्वासन

(१)

तृषित ! धर धीर मरु में,
कि जलती भूमि के उर में
कहीं प्रच्छन्न जल हो;
न रो यदि आज तरु में
सुमन की गन्ध तीखी,
स्यात्, कल मधुपूर्ण फल हो ।

(२)

नए पल्लव सजीले,
खिले थे जो वनश्री को
मसृण परिधान देकर;
हुए वह आज पीले,
प्रभञ्जन भी पधारा कुछ
नया वरदान लेकर ।

(३)

दुखों की चोट खाकर
हृदय जो कूप - सा जितना
अधिक गंभीर होगा,
उसी में वृष्टि पा कर
कभी उतना अधिक संचित
सुखों का नीर होगा ।

(४)

सुधा यह तो विपिन की,
गरजती निर्भरी जो आ
रही पर्वत - शिखर से,
वृथा यह भीति घन की,
दया - घन का कहीं तुझ-
पर शुभाशीर्वाद बरसे ।

(५)

करें क्या बात उसकी
कड़क उठता कभी जो
व्योम में अभिमान बन कर ?
कृपा पर ज्ञात उसकी,
उतरता वृष्टि में जो सृष्टि
का कल्याण बनकर ।

(६)

सदा आनन्द लूटें,
पुलक - कलिका चढ़ा या
अश्रु से पद - पद्म धोकर;
तुम्हारे बाण छूटें,
भुके हैं हम तुम्हारे हाथ
में कोदण्ड होकर ।



✓ कवि

ऊपा थी युग से खड़ी लिये
प्राची में सोने का पानी,
सर में मृणाल-तूलिका, तटी
में विस्तृत दूर्वा - पट धानी ।

खींचिता चित्र पर कौन ? छेड़ती
राका की मुसकान किसे ?
विम्बित होते सुख-दुख, ऐसा
अन्तर था मुकुर-समान किसे ?

दन्तुरित केतकी की छवि पर
था कौन मुग्ध होनेवाला ?
रोती कोयल थी खोज रही
स्वर मिला संग रोनेवाला ।

अलि की जड़ सुप्त शिराओं को
थी कली विकल उसकाने को,
आकुल थी मधु वेदना विश्व की
अमर गीत बन जाने को ।

थी व्यथा किसे प्रिय ? कौन मोल
करता आँखों के पानी का ?
नयनों को था अज्ञात अर्थ
तबतक नयनों की वाणी का ।

उर के क्षत का शीतल प्रलेप
कुसुमों का था मकरन्द नहीं;
विहगों के आँसू देख फूटते
थे मनुजों के छन्द नहीं ।

मृगहृगी वन्य - कन्या कर पाई
थी मृगियों से प्यार नहीं,
हाँ, प्रकृति -पुरुष तबतक मिल
हो - पाये थे एकाकार नहीं ।

शैथिल्य देख कलियाँ रोईं,
अन्तर से सुरभित आह उठी;
ऊसर ने छोड़ी साँस, एक दिन
धरणी विकल कराह उठी ।

यों विधि-विधान को दुखी देख
वाणी का आनन म्लान हुआ;
उर को स्पन्दित करनेवाले
कवि के अभाव का ज्ञान हुआ ।

आह टकराई सुर-तरु में,
पुष्प आ गिरा विश्व-मरु में।



कवि ! पारिजात के छिन्न-कुसुम
तुम स्वर्ग छोड़ भू पर आए,
उर - पद्म - कोष में छिपा दिव्य
नन्दनवन का सौरभ लाए।

जिस दिन तमसा-तट पर तुमने
दी फूँक बाँसुरी अनजाने,
शैलों की श्रुतियाँ खुलीं, लगे
नीड़ों में खग उठ-उठ गाने।

फूलों को वाणी मिली, चेतना
पा हरियाली डोल गई,
पुलकातिरेक में कली भ्रमर से
व्यथा हृदय की बोल गई।

प्राणों में कम्पन हुआ, विश्व की
सिहर उठी प्रत्येक शिरा;
तुमसे कुछ कहने लगी स्वयं
तृण-तृण में हो साकार गिरा।

निर्भर-मुख पर चढ़ गया रंग
सुनहरी उषा के पानी का;
उग गया चित्रा हिम-विन्दु-पूर्ण-
किसलय पर प्रणय-कहानी का ।

अंकुरित हुआ नव प्रेम, कंटकित
काँप उठी युवती वसुधा;
रस-पूर्ण हुआ उर-कोष, दृगों में
छलक पड़ी सौन्दर्य-सुधा ।

कवि ! तुम अनंग बनकर आये
फूलों के मृदु शर-चाप लिये,
चिर-दुखी विश्व के लिए प्रेम का
एक और संताप लिये ।

सीखी जगती ने जलन, प्रेम पर
जब से बलि होना सीखा;
कलियों ने बाहर हँसी, और
भीतर-भीतर रोना सीखा ।

उच्छ्वासों से गल मोम हुई
ऊसर की पाषाणी—कारा;
सींचने चली संसार तुम्हारे
उर की सुधा - मधुर धारा ।

तुमने जो सुर में भरा
शिशिर-क्रन्दन में भी आनन्द मिला;
रसवती हुई वेदना, आँसुओं
में जग को मकरन्द मिला ।

मेघों पर चढ़कर प्रिया-पास
प्रेमी की व्याकुल आह चली;
वन-वन दमयन्ती विकल खोजती
निर्मोही की राह चली ।

कवि ! स्वर्ग-दूत या चरम-स्वप्न
विधि का तुमको सुकुमार कहें ?
नन्दन-कानन का पुष्प, व्यथा-
जग का या राजकुमार कहें ?

विधि ने भूतल पर स्वर्ग-लोक
रचने का दे सामान तुम्हें;
अपनी त्रुटि को पूरी करने का
दिया दिव्य वरदान तुम्हें ।

सब कुछ देकर भी चिर-नवीन,
चिर-ज्वलित व्यथा का रोग दिया;
फूलों से रचकर गात, भाग्य
में लिख शूलों का भोग दिया ।

जीवन का रस-पीयूष नित्य
जग को करना है दान तुम्हें,
हे नीलकंठ, संतोष करो
था लिखा गरल का पान तुम्हें ।

कितना जीवन रस पिला-पिला
पाली तुमने कविता प्यारी ?
कवि ! गिनो, घाव कितने बोलो
उर - बीच उगे बारी - बारी ?

सूने में रो - रो बहा चुके
जग का कितना उपहास कहो ?
दुनिया कहती है गीत जिन्हें
उन गीतों का इतिहास कहो ।

•

दाँ कर से जल को उछाल
तट पर बैठे क्यों मौन ? अरे !
बाँ कर से मुख ढाँक लिया,
चिन्ता जागी यह कौन ? हरे !

किरणें लहरों से खेल रहीं,
मेरे कवि ! आह, नयन खोलो;
क्यों सिसक-सिसक रो रहे ? हाय
हे देवदूत, यह क्या बोलो ?

“आँखों से पूछो, स्यात, आँसुओं
में गीतों का भेद मिले ;
मुझको इतना भर ज्ञात, व्यथा
जब हरी हुई सब वेद मिले ।

“पाली मैंने जो आग, लगा
उसको युग का जादू - टोना;
फूटती नहीं, हों जला रही
चुपके उर का कोना - कोना ।

आँखें जो कुछ हैं देख रहीं
उनका कहना भी पाप मुझे;
क्या से क्या होगा विश्व, यही
चिन्ता, विस्मय, सन्ताप मुझे ।

“मुझ को न याद किस दिन मैंने
किस अमर व्यथा का पान किया;
दुनिया कहती है गीत, रुदन कर
मैंने साँझ - बिहान किया ।”

❀

❀

❀

आँसू पर देता विश्व हृदय का
कोहिनूर उपहार नहीं;
रोओ कवि ! दैवी व्यथा विश्व में
पा सकती उपचार नहीं ।

रोओ, रोना वरदान यहाँ
प्राणों का आठो याम हुआ;
रोओ, धरणी का मथित हलाहल
पीकर ही नभ श्याम हुआ ।

खारी लहरों पर स्यात्, कहीं
आशा का तिरता कोक मिले;
रोओ कवि ! ओंसू-बीच स्यात्,
धरणी को नव आलोक मिले ।



✓ कालिदास

समय-सिन्धु में डूब चुके हैं मुकुट, हर्म्य विक्रम के ,
राजसिद्धि सोई कब जानें महागर्त में तम के ।
समय सर्वभुक लील चुका सब रूप अशोभन—शोभन ,
लहरों में जीवित है कवि, केवल गीतों का गुंजन ।

शिला—लेख, मुद्रा के अंकन, सब हो चुके पुराने ,
केवल गीत कमल—पत्रों के हैं जाने—पहचाने ।
सब के गये, शेष हैं लेकिन, कोमल प्राण तुम्हारे ,
तिमिर—पूँज में गूँज रहे ज्योतिर्मय गान तुम्हारे ।

काल—स्त्रोत पर नीराजन-सम ये बलते आये हैं ,
दिन-मणि बुझे, बुझे विधु, पर ये दीप न बुझ पाये हैं ।
कवे ! तुम्हारे चित्रालय के रंग अभी हैं गीले ,
कली कली है, फूल फूल, फल ताजे और रसीले ।

बाणी का रस-स्वप्न खिला था जो कि अवन्तीपुर में ,
ज्यों का त्यों है जड़ा हुआ अब भी भारत के उर में ।
उज्जयिनी के किसी फुल्ल-वन-शोभी रूप-निलय से
विरह-मिलन के छन्द उड़े आते हैं मिले मलय से ।

एक सिक्त-कुन्तला खोलकर मेघों का वातायन
अब तक विकल रामगिरि-दिशि में हेर रही कुछ उन्मन ।
रसिक-मेघ पथ का सुख लेता मन्द-मन्द जाता है ;
अलका पहुँच सँदेश यत्न का सुना नहीं पाता है ।

और हुताशनवती तपोवन की निर्धूम शिखाएँ
लगती हैं सुरभित करती-सी मन की निखिल दिशाएँ ।
एक तपोवन जीवित है अब भी भारत के मन में ,
जहाँ अरुण आभा प्रदोष की विरम रही कानन में ।

बँधे विटप से बैखानस के चीवर ढँगे हुए हैं ,
ऋषि-रजिनीमुख-हवन-कर्म में निर्भय लगे हुए हैं ।
मुनिवाला के पास दौड़ता मृगशावक आता है ,
ज्यों-त्यों दम्भजनित क्षत अपने मुख का दिखलाता है ।

वह निसर्ग-कन्या अपने आश्रमवासी परिजन को ,
लगा इंगुदी-तैल , गोद ले सुहलाती है तन को ।
बहती है मालिनी कहीं अब भी भारत के मन में ,
प्रेमी प्रथम मिला करते जिसके तट बेतस-वन में ।

प्रथम स्पर्श से भङ्कृत होती वेपथुमती कुमारी ,
एक मधुर चुम्बन से ही खिलकर हो जाती नारी ।
दर्भाकुश खींचती चरण से झुकी अरालासन से
देख रही रूपसी एक प्रिय को मधु-भरे नयन से ।

इस रहस्य-कानन की अगणित निबिडोन्नतस्तनाएँ ,
कान्तप्रभ शरदिन्दु-रचित छबि की सजीव प्रतिमाएँ
हँसकर किसकी शमित अग्नि को जिला नहीं देती हैं ?
किस पिपासु को सहज नयनमधु पिला नहीं देती हैं ?

अमित युगों के अश्रु, अयुत जन्मों की विरह-कथाएँ ,
अमित जनों की हर्ष-शोक-उल्लासमयी गाथाएँ ,
भूतल के दुख और अलभ सुख जो कुछ थे अम्बर में
सब मिल एकाकार हो गये कवे ! तुम्हारे स्वर में ।

किसका विरह नहीं बजता अलकावासिनि के मन में ?
किसके अश्रु नहीं उड़ते हैं बनकर मेघ गगन में ?
किसके मन की खिली चाँदनी परी न बन जाती है ?
वनकन्या बन, लता-ओट छिप किसे न ललचाती है ?

कम्पित रुधिर थिरकता किसका नहीं रणित नूपुर में ?
मिलन-कल्पना से न दौड़ जाती विद्युत किस उर में ?
गीत लिखे होंगे कविगुरु ! तुमने तो अपने मन के ,
‘ मंक्रुत क्यों होते हैं स्वर इनमें त्रिकाल-त्रिभुवन के ?



विजन में

गिरि निर्वाक खड़ा निर्जन में,
दरी हृदय निज खोल रही है,
हिल-डुल एक लता की फुनगी
इज्जित में कुछ बोल रही है।

साँझ हुई, मैं खड़ा दूब पर
तटी बीच कर देर रहा हूँ;
गहन शान्ति के अन्तराल में
डूब-डूब कुछ हेर रहा हूँ।

मुझ मानव को क्षितिज - वृत्त से
घेर रही नीलिमा गगन की,
तब भी सीमाहीन दीखती
आज परिधि मेरे जीवन की।

चीर शान्ति का हृदय दूर पर
फिस्सी ठहर - ठहर गाती है;
किसी अर्द्ध - विस्मृत सपने की
धुँधली - सी स्मृति उपजाती है।

सुघर, मूक, स्वप्नों के शिशु - से
मन्द मेघ नभ में तरते हैं,
नीरव ही नीरव चलकर
नीरवता में जीवन भरते हैं।

जड़ - चेतन विश्राम रहे कर
प्रभु के एक शान्तिमय क्रम में,
अभी सृष्टि पूरी लगती है,
द्वन्द्व न कहीं विषम औ' सम में।

मर्त्य - अमर्त्य एक - से लगते,
मैं उम्भन कुछ सोच रहा हूँ;
मिट्टी मेरी खड़ी धरा पर,
किन्तु, स्वयं इस काल कहाँ हूँ।



प्रभाती

रे प्रवासी, जाग, तेरे
देश का संवाद आया ।

(१)

भेदमय संदेश सुन पुलकित
खगों ने चञ्चु खोली;
प्रेम से झुक-झुक प्रणति में
पादपों की पंक्ति डोली;
दूर प्राची की तटी से
विश्व के तृण-तृण जगाता ;
फिर उदय की वायु का वन में
सुपरिचित नाद आया ।

रे प्रवासी, जाग, तेरे
देश का संवाद आया ।

(२)

व्योम-सर में हो उठा विकसित
अरुण आलोक - शतदल;
चिर-दुखी धरणी विभा में
हो रही आनन्द - विह्वल ।
चूमकर प्रति रोम से सिर
पर चढ़ा वरदान प्रभु का,
रश्मि-अब्जलि में पिता का
स्नेह - आशीर्वाद आया ।

रे प्रवासी, जाग, तेरे
देश का संवाद आया।

(३)

सिन्धु-तट का आर्य भावुक
आज जग मेरे हृदय में,
खोजता उद्गम विभा का
दीप्त-मुख विस्मित उदय में;
उग रहा जिस क्षितिज-रेखा
से अरुण, उसके परे क्या ?
एक भूला देश धूमिल-
सा मुझे क्यों याद आया ?

रे प्रवासी, जाग, तेरे
देश का संवाद आया।

✓ संध्या

जीर्णवय अम्बर - कपालिक शीर्ण, वेपथुमान ,
पी रहा आहत दिवस का रक्त मद्य—समान ।
शिथिल, मद-विह्वल , प्रकंपित-वपु, हृदय हस्तज्ञान ,
गिर गया मधुपात्रा कर से, गिर गया दिनमान ।

खो गई चू कर जलद के जाल में मद-धार;
नीलिमा में हो गया लय व्योम का शृङ्गार ।
शान्त विस्मित भूमि का गति - रोर ;
एक गहरी शान्ति चारों ओर ।

कौन तम की आँख - सा कढ़कर प्रतीची-तीर
दिग्विदिक् निस्तब्धता को कर रहा गंभीर ?
व्योति की पहली कली, तम का प्रथम उडु-हंस ,
यह उदित किस अप्सरी का एक श्रुति-अवतंस ?

व्योम के उस पार अन्तर्धान ,
श्याम संध्या का निवास-स्थान ।
दिवस-भर छिपकर गगन के पार
साजती अभिसार के शृंगार ;
और व्यो होता दिवा का अन्त ,
जोहती आकर किसी का पन्थ ।

एक अलका व्योम के उस ओर ;
 यत्निणी कोई विषाद - विभोर ;
 खोजती, फिरती न मिलते कान्त ,
 बीतते जाते अमित कल्पान्त ;
 वेदना बजती कठिन मन-माँझ ;
 पल गिना करती कि हो कब साँझ ;
 अश्रु से भींगी, व्यथा से दीन ;
 ऊँघती प्रिय-स्वप्न में तल्लीन ।

षोडशी, तिमिराम्बरा सुकुमार;
 भूलुठित, पुष्पित लता-सी म्लान, छिन्नाधार ।
 सिक्त पलदल, मुक्त कुन्तल-जाल ;
 ग्रीव से उतरी , अचुम्बित, त्यक्त पाटल-माल ।

एक अलका व्योम के उस ओर
 यत्निणी कोई विषाद-विभोर ।

दीप्ति खोई, खो गया दिनमान ;
 व्योम का सारा महल सुनसान ;
 शून्य में हो, स्यात् , खोया प्यार ,
 विजन नभ में इसलिए अभिसार ।

उड्ड नहीं , तम में न उज्ज्वल हंस ,
 शुक्र , संध्या का कनक-अवतंस ।
 शान्त ! पृथ्वी ! रोक ले निज रोर ,
 शान्ति ! गहरी शान्ति हो सब ओर ।

नीलिमा-पट खालकर सायास
 आ रही संध्या मलीन, उदास ।
 देखती अवनत धरणि की ओर ,
 वेदना-पूरित , विषाद-विभोर ।
 शून्य की अभिसारिका अति दीन ,
 शून्य के ही प्राण-सी खहीन ।

उठ रहे पल मन्दगति निस्पन्द,
 जा रहे बिछते गगन पर अश्रु-विन्दु अमन्द ।
 साधना-सी मग्न, स्वप्न-विलीन,
 निःस्व की आराधना-सी शून्य, वेगविहीन ।

पर्ण-कुञ्जों में न मर्मर गान;
 सो गया थककर शिथिल पवमान ।
 अब न जल पर रश्मि विम्बित लाल ;
 मूँद उर में स्वप्न सोया ताल ।
 सामने द्रमराजि तमसाकार,
 बोलते तम में विहग दो-चार ;
 र्भीगुरों में रोर खग के लीन ,
 दीखते ज्यों एक ख अस्पष्ट अर्थविहीन ।
 दूर-श्रुत अस्फुट कहीं की तान,
 बोलते मानों, तिमिर के प्राण ।

व्योम से भरने लगा तमचूर्ण - संग प्रमाद,
 तारकों से भूमि को आने लगा संवाद ।

सघन, श्याम विषाद का अंचल तिमिर पर डाल
शान्त कर से बूझ रही संध्या भुवन का भाल ।

सान्त्वना के स्पर्श से श्रम भूल ,
सो रहे द्रुम पर उनींदे फूल ।
भुक गए पल्लव शिथिल, साभार ;
उँधने अलसित लगा संसार ।
शान्ति, गहरी शान्ति चारों ओर
एक मेरे चित्त में कल रोर—

भूमि से आकाश तक जिसका अनन्त प्रसार
बाँध लूँ उसको भुजा में युग्म बाँह पसार ।

मैं बढ़ाता बाहुओं का पाश ,
व्यंग्य से हँसता निखिल आकाश ।

बन्ध से बाहर खड़ा निस्सीम का विस्तार ,
भुज-परिधि का कुछ तिमिर, कुछ शून्य पर अधिकार ।

याद कर जानें न किसका प्यार ,
गिर गये दो अश्रु-कण सुकुमार ।

आँसुओं की दो कनी इस सौँफ का वरदान ,
अश्रु के दो विन्दु पिछली प्रीति की पहचान ।
अश्रु दो निस्सीम के पद पर हृदय का प्यार ,
शान्त का स्मृति - चिह्न पावन, लुप्ततम उपहार ।



अगेय की ओर

गायक, गान, गेय से आगे
मैं अगेय स्वन का श्रोता मन ।

(१)

सुनना श्रवण चाहते अबतक
भेद हृदय जो जान चुका है ;
बुद्धि खोजती उन्हें जिन्हें जीवन
निज को कर दान चुका है ।
खो जाने को प्राण विकल हैं
चढ़ उन पद - पदमों के ऊपर ;
बाहु-पाश से दूर जिन्हें विश्वास
हृदय का मान चुका है ।

जोह रहे उनका पथ दृग
जिनको पहचान गया है चिन्तन ।
गायक, गान, गेय से आगे
मैं अगेय स्वन का श्रोता मन ।

(२)

उछल-उछल बह रहा अगम की
ओर अभय इन प्राणों का जल ;
जन्म-मरण की युगल घाटियाँ
रोक रहीं जिसका पथ निष्फल ।

मैं जल-नाद श्रवण कर चुप हूँ ,
 सोच रहा यह खड़ा पुलिन पर ;
 है कुछ अर्थ, लक्ष्य इस रव का
 या 'कुल-कुल, कल-कल' ध्वनि केवल ?

दृश्य, अदृश्य कौन सत् इनमें ?
 मैं या प्राण-प्रवाह चिरन्तन ?
 गायक, गान, गेय से आगे
 मैं अगेय स्वन का श्रोता मन ।

(३)

जलकर चीख उठा वह कवि था ,
 साधक जो नीरव तपने में ;
 गाये गीत खोल मुँह क्या वह
 जो खो रहा स्वयं सपने में ?
 सुषमाएँ जो देख चुका हूँ
 जल-थल में, गिरि, गगन, पवन में ,
 नयन मूँद अन्तर्मुख जीवन
 खोज रहा उनको अपने में ।

अन्तर - बहिर एक छवि देखी ,
 आकृति कौन ? कौन है दर्पण ?
 गायक, गान, गेय से आगे
 मैं अगेय स्वन का श्रोता मन ।

(४)

चाह यही छू लूँ स्वप्नों की
 नग्न कान्ति बढ़कर निज कर से ;
 इच्छा है, आवरण स्रस्त हो
 गिरे दूर अन्तःश्रुति पर से ।
 पहुँच अगेय-गेय-संगम पर
 सुनूँ मधुर वह राग निरामय ,
 फूट रहा जो सत्य सनातन
 कविर्मनीषी के स्वर - स्वर से ।

गीत बनी जिनकी भाँकी ,
 अब दृग में उन स्वप्नों का अंजन ।
 गायक, गान, गेय से आगे
 मैं अगेय स्वन का श्रोता मन ।



सावन में

जेठ नहीं, यह जलन हृदय की ,
उठ कर जरा देख तो ले ;
जगती में सावन आया है ,
मायाविनि ! सपने धो ले ।

जलना तो था बदा भाग्य में
कविते ! बारह मास तुम्हे ;
आज विश्व की हरियाली पी
कुछ तो प्रिये, हरी हो ले ।

नन्दन आन बसा मरु में ,
घन के आँसू वरदान हुए ;
अब तो रोना पाप नहीं ,
पावस में सखि ! जी भर रो ले ।

अपनी बात कहूँ क्या ! मेरी
भाग्य - लीक प्रतिकूल हुई ;
हरियाली को देख आज फिर
हरे हुए दिल के फोले ।

सुन्दरि ! ज्ञात किसे, अन्तर का
उच्छल - सिन्धु विशाल बँधा ?
कौन जानता तड़प रहे किस
भौँति प्राण मेरे भोले ।

सौदा कितना कठिन सुहागिनि !
जो तुझ से गँठ - बन्ध करे ;
अंचल पकड़ रहे वह तेरा ,
संग - संग बन - बन डोले ।

हाँ, सच है, छाया सुरूर तो
मोह और ममता कैसी ?
मरना हो तो पिये प्रेम-रस ,
जिये अगर बाउर हो ले ।



भ्रमरी

पी मेरी भ्रमरी, वसन्त में
अन्तर-मधु जी-भर पी ले ;
कुछ तो कवि की व्यथा सफल हो ,
जलूँ निरन्तर, तू जी ले ।

चूस-चूस मकरन्द हृदय का
संगिनि ? तू मधु-चक्र सजा ,
और किसे इतिहास कहेंगे
ये लोचन गीले—गीले ?

लते ? कहूँ क्या, सूखी डालों
पर क्यों कोयल बोल रही ?
बतलाऊँ क्या, ओस यहाँ क्यों ?
क्यों मेरे पल्लव पीले ?

किसे कहूँ ? धर धीर सुनेगा
दीवाने की कौन व्यथा ?
मेरी कड़ियाँ कसी हुई ,
बाकी सबके बन्धन ढीले ।

मुझे रखा अज्ञेय, अभी तक
विश्व मुझे अज्ञेय रहा ;
सिन्धु यहाँ गंभीर, अगम ,
सखि ? पन्थ यहाँ ऊँचे-टीले ।



✓ रहस्य

तुम समझोगे बात हमारी ?

(१)

उडु - पुञ्जों के कुञ्ज सघन में ,
भूल गया मैं पन्थ गगन में ,
जगे-जगे आकुल पलकों में बीत गई कल रात हमारी ।

(२)

अस्तोदधि की अरुण लहर में ,
पूरब-ओर कनक - प्रान्तर में ,
रँग-सी रही पंख उड़-उड़कर तृष्णा सायं-प्रात हमारी ।

(३)

सुख-दुख में डुबकी - सी देकर ,
निकली वह देखो, कुछ लेकर ,
श्वेत, नील दो पद्म करों में, सजनी सद्यः-स्नात हमारी ।



संबल

सोच रहा, कुछ गा न रहा मैं ।

(१)

निज सागर को थाह रहा हूँ,
खोज गीत में राह रहा हूँ,
पर, यह तो सब कुछ अपने हित, औरों को समझा न रहा मैं ।

(२)

वातायन शत खोल हृदय के,
कुछ निर्वाक खड़ा विस्मय से,
उठा द्वार-पट चकित भाँक अपनेपन को पहचान रहा मैं ।

(३)

ग्रन्थि हृदय की खोल रहा हूँ,
उन्मन - सा कुछ बोल रहा हूँ,
मन का अलस खेल यह गुनगुन, सचमुच गीत बना न रहा मैं ।

(४)

देखी दृश्य - जगत् की भाँकी,
अब आगे कितना है बाकी ?
गहन शून्य में मग्न, अचेतन, कर अगीत का ध्यान रहा मैं ।

(४)

चरण-चरण साधन का श्रम है,
गीत पथिक की शान्ति परम है,
ये मेरे संबल जीवन के, जग का मन बहला न रहा मैं ।

(६)

एक निरीह पथिक निज भग का,
मैं न सुयश-भिक्षुक इस जग का,
अपनी ही जागृति का स्वर यह, बन्धु, और कुछ गा न रहा मैं ।
सोच, रहा-समझा न रहा मैं ।



✓ प्रतीक्षा

अयि संगिनी सुनसान की !

(१)

मन में मिलन की आस है,
दृग में दरस की व्यास है,
पर दृढता फिरता जिसे
उसका पता मिलता नहीं,
भूटे बनी धरती बड़ी,
भूटे बृहत् आकाश है;

मिलती नहीं जग में कहीं

प्रतिमा हृदय के गान की ।

अयि संगिनी सुनसान की !

(२)

तुम जानती सब बात हो,
दिन हो कि आधी रात हो,
मैं जागता रहता कि कब
मंजीर की आहट मिले,
मेरे कमल-वन में उदय
किस काल पुण्य-प्रभात हो;

किस लग्न में हो जाय कब

जानें कृपा भगवान की ।

अयि संगिनी सुनसान की !

(३)

मुख में हँसी, मन म्लान है,
चजड़े घरों में गान है,
जग ने सिखा रक्खा, गरल-
पीकर सुधा - वर्षण करो,
मन में पचा ले आह जो
सब से वही बलवान है;

उर में पुरातन पीर, मुख

पर श्रुति नई मुसकान की ।

अयि संगिनी सुनसान की ।



शेष-गान

संगिनि, जी भर गा न सका मैं ।

(१)

गायन एक व्याज इस मन का,
मूल ध्येय दर्शन जीवन का,
रँगता रहा गुलाब, पटी पर अपना चित्र उठा न सका मैं ।

(२)

इन गीतों में रश्मि अरुण है,
बाल ऊर्मि, दिनमान तरुण है,
बँधे अमित अपरूप-रूप, गीतों में स्वयं समा न सका मैं ।

(३)

बँधे सिमट कुछ भाव प्रणय के,
कुछ भय, कुछ विश्वास हृदय के,
पर इन से जो परे तत्व वर्णों में उसे बिठा न सका मैं ।

(४)

घूम चुकी कल्पना गगन में,
विजन विपिन, नन्दन - कानन में,
अग-जग घूम थका लेकिन, अपने घर अब तक आ न सका मैं ।

(५)

गाता गीत विजय - मद - माता,
मैं अपने तक पहुँच न पाता,
स्मृति - पूजन में कभी देवता को दो फूल चढ़ा न सका मैं ।

(६)

परिधि - परिधि मैं घूम रहा हूँ,

गन्ध - मात्र से भूम रहा हूँ,

जो अपीत रस-पात्र अचुम्बित उस पर अधर लगा न सका मैं ।

(७)

सम्मुख एक ज्योति भिलमिल है,

, हँसता एक कुसुम खिलखिल है,

देख-देख मैं चित्र बनाता फिर भी चित्र बना न सका मैं ।

(८)

पट पर पट मैं खींच हटाता,

फिर भी कुछ अदृश्य रह जाता,

यह मायामय भेद कौन ? मन को अबतक समझा न सका मैं ।

(९)

पल - पल दूर देश है कोई,

अन्तिम गान शेष है कोई,

छाया देख रहा जिसकी, काया का परिचय पा न सका मैं ।

(१००)

उड़े जा रहे पंख पसारे,

गीत व्योम के कूल - किनारे,

उस अगीत की ओर जिसे प्राणों से कभी लगा न सका मैं ।

(११)

जिस दिन वह स्वर में आयेगा,

शेष न फिर कुछ रह जायेगा,

कहकर उसे कहूँगा वह जो अबतक कभी सुना न सका मैं ।



दिनकरजी का अभिनव खण्डकाव्य

कुरुक्षेत्र

हिमाद्रि साहज : सात सर्गः सुन्दर वृषार्धः सजिल्दः मूल्य केवल ३॥०॥

कुछ अमूल्य सम्मतियाँ

राष्ट्रकवि श्रीमैथिलीशरणजी गुप्त

कुरुक्षेत्र हिन्दी की गौरव-वृद्धि करेगा, इसमें सन्देह नहीं। चिन्तन कितना कवित्वमय किया जा सकता है, इसका विचित्र निदर्शन इसमें मिलता है।

भदन्त आनन्द कौशल्यायन, वर्धा

आपने एक दार्शनिक कवि के कौशल के साथ अतीत की पृष्ठभूमि पर वर्तमान को चित्रित किया है। मेरी सम्मति में कुरुक्षेत्र नये युग की नई गीता है। मुझे हर्ष है कि हमारी “राष्ट्र-भारता” में ऐसी चीज लिखी जा सकी।

आचार्य काका कालेलकर, वर्धा

हमारी प्राचीन सभ्यता को अद्यतन करने में इस काव्य की बड़ी सहायता होगी।

साहित्यवाचस्पति परिडित बाबूरावविष्णु पराङ्कर, काशी

जिस जाति में कुरुक्षेत्र-जैसे काव्य की रचना होती है उसका निकट का भविष्य अत्यन्त उज्ज्वल समझना चाहिए।

परिडित माखनलालजी चतुर्वेदी “भारतीय आत्मा”, खण्डवा

दिनकर ने, हर्ष है, वह लिखा जिसे पीढ़ियों को देते समय जीवन पर उतारने में उन्हें देर नहीं लगेगी। और अतीत से अस्तित्व तक संस्कृति का जो डोरा, पीढ़ियों की यादों की अँगुलियों से, रह-रहकर, कभी छूटता और कभी छूटता आया है, वह पीढ़ियों की पकड़ में आये बिना नहीं रहेगा। दिनकर ने मैथिलीशरण के आदर्श को, प्रसाद के सपनों में, तुलसीदास की सरलता से लिखने का प्रयास किया है। “मुंशी” की भाषा में कहूँ तो वसन्त के पंखी ने समय को, शताब्दियों की भाषा में वाणी का दान दिया है।

विद्वद्धर आचार्य श्री नरेन्द्रदेवजी, लखनऊ

कविता में प्रवाह, भावों में स्पष्टता और विचारों में युग का प्रतिनिधित्व इस ग्रन्थ की विशेषता है। पिछले महायुद्ध से लेकर इस महायुद्ध की अवधि तक हमारे देश में जो राजनीतिक और सांस्कृतिक प्रगति हुई है, उसका उत्कृष्ट भावनात्मक चित्र “कुरुक्षेत्र” में है। युद्ध और शान्ति, हिंसा और अहिंसा की जो विवेचना इस काव्य में है, उसमें भारतीय संस्कृति और समाज-दर्शन का सुन्दर समन्वय है। जिस ओज से जीवित और सुसंस्कृत राष्ट्र मानव-समाज को सुन्दर और संपन्न बना सकता है, वह ओज, वह बीररस “कुरुक्षेत्र” का गुणीभूत व्यंग्य है।

“इस उत्कृष्ट रचना के लिए आपको बधाई।

देशमान्य श्री जयप्रकाशनारायण

पिछले कितने ही वर्षों से हमारे देश में हिंसा और अहिंसा को लेकर जो बौद्धिक द्वन्द्व और संघर्ष चल रहा है, उसका स्पष्ट चित्र इस रचना में है। यह एक अचरज की बात है कि जब संसार की जनता युद्ध की भयंकरता से भीत, कम्पित और सहमी हुई नजर आये, तब हमारे देश की राष्ट्रीय चेतना तलवार की ओर नृष्णा-भरी आँखों से देखे। मगर, बात ही कुछ ऐसी है कि जिन कारणों से प्रेरित होकर युद्ध से सहमा हुआ पश्चिमी संसार परमाणु-बम की खोज में व्यग्र है, ठीक वैसे ही कारणों से और उन्हीं कारणों से उत्पन्न परिस्थितियों के चलते आज महात्मा गाँधी का हिन्दुस्तान तलवार की तात्कालिक उपादेयता समझने को विवश हुआ है।

“कुरुक्षेत्र” का कवि इस जटिल प्रश्न की तह में वहाँ तक गया है जहाँ तक हमारे देश का एक राष्ट्रीय कवि आज जा सकता है। चिन्तन की गंभीरता और विचारों की सजीवता की दृष्टि से तो यह पुस्तक पठनीय है ही, कलात्मक सौन्दर्य की दृष्टि से भी इस काव्य का स्थान ऊँचा होना चाहिए।

कुरुक्षेत्र का काव्य महाभारत का प्रसंग लेकर चला है, किन्तु, उसकी पंक्तियों में वर्तमान भारत की सतेज आत्मा हुंकार भरती जान पड़ती है। कुरुक्षेत्र में, अन्ततः, जिस दर्शन का निरूपण किया गया है, वह क्रान्तिकारी, तथ्यपूर्ण और तर्क-सम्मत है। उसका सामंजस्य जीवन से है; आकाश से अधिक वह धरती का दर्शन है। उसका संबंध वास्तविकता से है। वह निवृत्ति और निष्क्रियता के मूल पर ही प्रहार करता है और कितनी ही परम्परागत आन्त धारणाओं और मान्यताओं की शून्यता स्पष्ट कर देता है।

आज के युग में इस पुस्तक का अधिकाधिक प्रचार हो, मैं यही चाहता हूँ।

माननीय श्रीसंपूर्णानन्दजी, लखनऊ

बहुत सुन्दर पुस्तक है। हिन्दी में इस ढंग की कोई दूसरी पुस्तक है कि नहीं, नहीं कह सकता। जो विचार इसके पात्रों के द्वारा आपने प्रकट किये हैं उनमें से कोई-कोई भले ही यत्र-तत्र महाभारत में या अन्यत्र मिल जाय, पर, सब तो नहीं ही मिल सकते। महाभारत से यह शिक्षा निकालना आपकी अपनी चीज है। उदाहरण के लिए, चतुर्थ सर्ग में जिस भीष्म को आप सामने लाये हैं, उसे अब तक कब, किसने देखा था? ऐसा लगता है कि उसका अस्तित्व रहा होगा; कभी-कभी वह उस भीष्म को, जिसकी प्रतिमा व्यासदेव ने हमारे सामने रख दी है, व्यथित करता होगा। परन्तु, उसको प्रकाश में आने का अवसर आपने ही दिया है। जिन आशाओं का व्यंजन पीछे के सर्गों में हुआ है, वह अस्फुट रूप से लाखों हृदयों में उस समय घुट रही होंगी; आज करोड़ों कण्ठों से स्फुट या अर्ध-स्फुट स्वरों में फूट निकली हैं। पराशक्ति उन्हें मूर्त्त करे।

मेरे विचार-सागर में अवगाहन करने का अवसर देने के लिए आपका ऋणी हूँ ।

कुरुक्षेत्र मानव-समाज में नित्य मचा रहता है । परन्तु, उसके आभ्यन्तर रूप का जो पहलू आपने हमारे सामने रखा है उस तक हमारे कवियों की, प्रायः, पहुँच ही नहीं हुई थी । यह इस दिशा में उपज्ञा है ।

श्रीमती महादेवीजी वर्मा, प्रयाग

कुरुक्षेत्र इतना अच्छा लगा कि मैंने उबर के आने-जाने के अवकाश में ही उसे पूरा सुन लिया । महाभारत का यह रक्त-प्रशन-चिह्न प्रत्येक युग के सामने उत्तर की चुनौती रखता आया है । आपने “कुरुक्षेत्र” में उसे अपने युग के अनुरूप उत्तर दे दिया ।

रायबहादुर पण्डित श्रीनारायणजी चतुर्वेदी “श्रीवर”, लखनऊ

शङ्खध्वनि-सी, ज्ञानधर्म की सारभूत यह परम पुनीता,
निःसंकोच इसे कह सकते हिन्दी में हम अभिनव गीता ।
शिष्ट और सौष्ठवमय, सुन्दर, ओजपूर्ण है इसकी भाषा,
छन्दों में गति, गति में प्रतिभा, पद-पद में शिव की अभिलाषा ।
माधुवाद ! इस काव्य अलौकिक के निर्माता हे प्रिय दिनकर !
करो बधाई स्वीकृत मेरी, विनयावनत तुम्हाग श्रीवर ।

पण्डित हजारी प्रसादजी द्विवेदी, शान्तिनिकेतन, बोलपुर

अपने देश के एक प्रसिद्ध आलंकारिक आचार्य ने “शब्द और अर्थ की परस्परस्पर्द्धा चारुता के साहित्य” (= साथ-साथ रहने के भाव) को काव्य कहा था । कुरुक्षेत्र में यह साहित्य इतना अधिक है कि उस आलंकारिक आचार्य को भी देखकर अचरज में पड़ जाना पड़ता । भाषा के प्रवाह और विचार के गांभीर्य में इतनी स्पर्द्धा कम देखने को मिलती है । कुरुक्षेत्र हमारी भाषा का गौरव है । इस देश का भविष्य उज्ज्वल है, साहित्य का भवितव्य महान् है जो इस श्रेणी की कविता लिखी जाने लगी है । मेरी हार्दिक बधाई स्वीकार कीजिये ।

कलामर्मज्ञ श्रीयुत रायकृष्णदासजी, काशी

हिन्दी के वर्तमान काव्य-साहित्यकारों में दिनकरजी का अपना स्थान है । खड़ीबोली के जो उत्थान हुए हैं, जिनमें पहले के प्रवर्तक गुप्तजी और दूसरे के प्रसादजी हैं, उनका सामंजस्य हम दिनकरजी की रचनाओं में पाते हैं । दिनकरजी की रचनाएँ हिन्दी के लिए विशिष्ट श्लाघ्य वस्तुएँ हैं और उनके कारण कवि ने अपना जो स्तुत्य एवं स्पृहणीय स्थान बना लिया है, वह सर्वथा अभिनन्द्य है ।

कुरुक्षेत्र में युद्ध और शान्ति-जैसी शाश्वत समस्या पर विचार किया गया है । काव्य और तर्क, अनुभूति और विवेक, हृदय और मस्तिष्क का जो सामंजस्य कुरुक्षेत्र में मिलता है वह अत्यन्त दुर्लभ है ।

प्रोफेसर डाक्टर नगेन्द्र, एम० ए०, डी० लिट्, दिल्ली

हमारी पीढ़ी के कवियों में प्रसादजी की विरासत आपको ही मिली है—वह विरासत जिसमें विराट और कोमल एक आजिंगन-पाश में आबद्ध हैं। नई कविता की प्रगति देखकर मन निराश हो चला था। आपका कुरुक्षेत्र पढ़कर मन को सुख हुआ।

परिणत शान्तिप्रियजी द्विवेदी, काशी

कुरुक्षेत्र बहुत ही सारगर्भित काव्य है। बिजकुल ठीक समय पर आपने अपने कवि-व्यक्तित्व का सार्थक संदेश दिया है। आज की उलझी हुई समस्याओं पर आपका चिन्तन बड़े ही सुस्पष्ट और मर्मस्पर्शी रूप में व्यक्त हुआ है। जो इसे पढ़ेगा वह महाभारत का हृदय-सर्वस्व पा जायेगा। मैं इस काव्य को केवल साहित्यिक पाठकों के हाथ में ही नहीं, बल्कि, राज-नीतिज्ञों के हाथ में भी देखना चाहता हूँ। यह उनके लिए पथ-प्रदर्शक का काम देगा। छठों सर्ग कवित्व की दृष्टि से पूर्ण प्रांजल जान पड़ा।

प्रोफेसर विश्वनाथ मिश्र, हिन्दू-विश्वविद्यालय, काशी

विचारों के न्यास और वाक्यविन्यास में निगूढ़ बन्ध इतना अधिक है कि प्रत्येक छन्द व्याख्या के विस्तार की भूमि पाकर स्वच्छन्द निबन्ध का हेतु बन सकने की समर्थता को प्राप्त हो गया है। ऐसी कसावट इस बात का प्रमाण है कि हिन्दी-साहित्य में आधुनिक युग की स्वच्छन्द काव्य-धारा का एक प्रवाह वह भी है जो जीवन की बढ़ती हुई संकुलता के अनुरूप कठिन कवि-कर्म में निरत होकर साहित्य की साधना को सिद्धि तक पहुँचाने की क्षमता रखता है।

श्री शिवमंगलसिंहजी सुमन, काशी

अनायास ही कहीं से कुरुक्षेत्र हाथ लग गया। कुछ पन्ने उलटते-पुलटते ; चस्का लगा ; बड़ा प्रयत्न किया, पर, बिना समाप्त किये उठने का साहस ही नहीं हुआ। पाठक के रूप में, जहाँ तक याद है, आज तक मैंने किसी लेखनी की इतनी विवशता स्वीकार नहीं की। हृदय से मनाता हूँ कि यह युगान्तरकारी काव्य युग-युग का संवत् बने। हिन्दी-साहित्य का भविष्य बड़ा उज्ज्वल लग रहा है। गीताकार अपनी वाणी का इतना भव्य Interpretation सुनकर, पता नहीं, क्या कहता। मुझे भय है कि कहीं “कुरुक्षेत्र” वर्तमान युग की गीता न बन बैठे। हताश मानव-मन तथा किर्तव्यविमूढ़ युग के लिए इससे बढ़कर अन्य पाथेय मिल ही क्या सकता था ?

श्री वैजनाथसिंह “त्रिनोद”, काशी

कुरुक्षेत्र मुझे अद्भुत काव्य मालूम हुआ। उसमें भारतीय समाज का विकास चमकता है। ऐतिहासिक दृष्टि से पन्त, प्रसाद, निराजा और महादेवी

का जो स्थान है, वही स्थान ऐतिहासिक विकास-क्रम में कुरुक्षेत्र का भी है। कुरुक्षेत्र वह सीमा-रेखा है जहाँ से हम एक दूसरी दुनिया में प्रवेश करते हैं।

परिणित रूपनारायण पाण्डेय, लखनऊ

कुरुक्षेत्र के कुछ पृष्ठ पढ़कर ही हृदय पुलकित हो उठा। आपकी इस प्रगति का मैं अभिनन्दन करता हूँ। आपकी नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा अक्षय्य हो।

प्रोफेसर परिणित नलिनविलोचन शर्मा, पटना

“कुरुक्षेत्र” के उद्देशों और प्रकरणों की आकस्मिकता तथा चित्रों की सूक्ष्मता और व्यक्तता से बहुत ही प्रभावित हुआ। छन्द, अन्त्यानुप्रास और प्रतीक आपकी बारीक कारीगरी एवं अभिनव कल्पनाशक्ति के समन्वय से भङ्कृत तथा सजीव हो उठे हैं।

काव्य के तत्त्व का बौद्धिकतापूर्ण (Cerebralised) विवेचन आधुनिक हिन्दी-कविता की न्यूनता तथा विवेकशील आलोचक की माँग की पूर्ति करता है।

आपकी कला की प्रखरता हिन्दी की दुर्लभ विशिष्टता है।

परिणित जनार्दन प्रसाद झा छिज, औरंगाबाद

कुरुक्षेत्र हमारे काव्य-जगत का गौरव-विन्दु है। उस पर सभी हिन्दी-भाषा-भाषियों को स्वाभाविक अभिमान होना ही चाहिए।

परिणित रामानन्द शर्मा, मद्रास

कुरुक्षेत्र के सम्बन्ध में साहित्य-जगत का मौन मुझे बेहद खटक रहा है। आपकी यह रचना तो ‘कामायनी’ से ऊँची नहीं तो बिल्कुल उसके जोड़ की मालूम होती है।

परिणित नन्ददुलारे वाजपेयी, काशी

निश्चय ही, यह प्रथम श्रेणी का काव्य है और इसका मूलभूत चिन्तन भी श्रेष्ठ कोटि का है। इस चिन्तन-प्रधान काव्य की सफलता पर दो मत नहीं हो सकते। आप की भाषा में नैसर्गिक बल और छन्दों में प्रवाह है। हिन्दी-काव्य की, इस रचना से, श्रीवृद्धि हुई है। यह हिन्दी के स्थायी साहित्य को एक मूल्यवान् उपहार है।

परिणित जानकीवल्लभजी शास्त्री, मुजफ्फरपुर

हिन्दी का, कदाचित्, यह प्रथम पुरुष-काव्य है। प्रबन्धगत सभी रीति-रुढ़ियों से परे इस सबल, सतेज काव्य-पुरुष की धीर-गंभीर वाणी किसे न आकृष्ट करेगी? आपने घनाक्षरी और सवैये का पुरानापन हर लिया। कुरुक्षेत्र प्रबन्ध-काव्य के इतिहास का जैसे एक सुनहला पृष्ठ है।

श्रीमती सुभद्राकुमारी चौहान, जब्बलपुर

कुरुक्षेत्र हिन्दी का गौरव-ग्रन्थ है। जितनी परस्पर-विरोधी भवनाएँ हमारे युग को व्याकुल कर रही हैं, उनके सार को कुशल कवि ने अपने

अद्भुत भोज के साथ चित्रित किया है। मैं इस उक्ति से सहमत हूँ कि यह वर्तमान युग की गीता है। घर-घर में इसका अध्ययन होना चाहिए। इस पुस्तक का स्थायी प्रभाव हमारे समय पर पड़ कर रहेगा।

दैनिक आर्यावर्त, पटना

छोटे-से निबन्ध में “कुरुक्षेत्र” की महिमा पूर्णतः गायी नहीं जा सकती और हम संक्षेप में इतना ही कहना चाहते हैं कि यह काव्य युग-प्रवर्तक है और इसका कवि युग-प्रवर्तक महाकवि।

The Indian Nation (English Daily), Patna.

A true poet must needs before his own age be even with the posterity. In KURUKSHETRA Dinkar has amply exhibited this attribute and full of "thoughts that breathe and words that burn" the last canto of this monumental Epic will most undoubtedly survive all ravages of time and transcend all limits of space to inspire all human hearts of distant lands as well as generations to come. As Tulsidas in his Ram-charitamanas rejuvenated the Muse of VALMIKI, so has Dinkar's KURUKSHETRA revitalised the CALLIOPE of VEDAVYAS. The book, it is fervently hoped, will enrich the treasure of world literature.

The Searchlight (English Daily), Patna.

The book is bound to go down in the history of the current Hindi poetry as a great master-piece of ideas and thoughts and its author will, no doubt, be recognised as a top-ranking poet of his time. We only wish that the book were translated into some of the European languages so that its appreciation would increase.

दैनिक भारत, प्रयाग

हिन्दी के काव्य साहित्य में कुरुक्षेत्र को आदरणीय स्थान मिलेगा, इसमें कोई सन्देह नहीं।

दैनिक सन्मार्ग, काशी

कुरुक्षेत्र को राष्ट्रिय निधि कहने में हमें अभिमान है। केवल इस रचना के लिए ही कवि का देशव्यापी अभिनन्दन होना चाहिये।

दैनिक संसार, काशी

कुरुक्षेत्र में युगधर्म पुकार रहा है, भारत का यौवन गरज रहा है। नवीन संसार की उषा भलक रही है। अपनी संस्कृति की रक्षा करते हुए दिनकरजी ने साम्यवाद का जो आह्वान इस पुस्तक में किया है, उसका हम स्वागत करते हैं।

प्रसाद गुण तो इसकी महती विशेषता है। विचारों की जटिलता शब्दों में नहीं फँसने पाई है। पुस्तक युग के अनुकूल है। हिन्दी को यह सुन्दर देन है।

राष्ट्रभाषा, वर्धा

युद्ध अथवा शान्ति, बाहुबल अथवा आत्मबल, निवृत्ति-मार्ग अथवा

प्रवृत्ति-मार्ग का प्रश्न आज सारे विश्व के सामने नये रूप में आ खड़ा हुआ है। दिनकर ने एक दार्शनिक कवि की सूक्ष्म विचारधारा और कवि की सरसता का प्रयोग करके इन सामयिक प्रश्नों का समाधान करने का प्रयत्न किया है। पुस्तक समाप्त करते ही तुरन्त फिर पढ़ने की इच्छा होती है। इसमें सन्देह नहीं कि समाज को उन्होंने कुरुक्षेत्र द्वारा प्रकाश की कुछ किरणों का दान दिया है, जिसके लिए उनके काव्य के प्रेमी उनके कृतज्ञ होंगे।

दिनकरजी की अन्य कृतियाँ

मिट्टी की ओर

हिन्दी की वर्तमान कविता पर एक समकालीन कवि की आलोचनात्मक दृष्टि।

डिमाइ साइज : कोई सवा दो सौ पृष्ठ : मूल्य केवल ३॥)

कुछ अमूल्य सम्मतियाँ

प्रोफेसर विश्वनाथप्रसाद मिश्र, हि० वि० वि०, काशी

“मिट्टी की ओर” पढ़ने लगा तो मुझे अपने ऊपर ही आश्चर्य हुआ। हिन्दी आलोचना की कोई पुस्तक मैंने रातभर जगकर यदि पढ़ी है तो स्वर्गीय आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की। यह दूसरी पुस्तक है जिसे मैं निशीथ में निरन्तर पढ़ता ही रहा। विरमय की आत्मगत लहर रुकी तो वह परगत होकर वेग से फूटी। आप में कारयित्री प्रतिभा ही नहीं, भावयित्री भी है और वह भी निष्कलमष—पक्षपातहीन—दिनकर-दीप्ति-सी ही पूत। मैं हृदय से आपकी इन दोनों शक्तियों—छाया और प्रभा—का अभिनन्दन करता हूँ।

कलामर्मज्ञ श्रीयुत रायकृष्णदासजी, काशी

“मिट्टी की ओर” दिनकर की गद्य की ओर प्रगति का सूचक है। गद्य के क्षेत्र में दिनकर का यह पहला दर्शन हमें आलोचक और विचारक के रूप में होता है। जो प्रबल ओज और शक्ति दिनकर की कविताओं में मिलती है, वही उनके गद्य में विद्यमान है। दिनकर का मस्तिष्क सुलझा हुआ है और उनके विचार सर्वथा मौलिक हैं। “मिट्टी की ओर” में संगृहीत निबन्धों में ठोस पाण्डित्य तो है ही, साथ ही उनकी शैली में कवि-सुलभ स्निग्धता और कोमलता भी है। दिनकर के इस नवीन स्वरूप का हम हार्दिक स्वागत और अभिनन्दन करते हैं।

शरद-शिल्पी श्रीशिवपूजन सहाय, छपरा

सच्चं और स्वाभाविक कवि की कला, प्रायः, गद्य और पद्य में समान रूप से चमत्कार एवं सौन्दर्य उत्पन्न करती दीख पड़ती है। दोनों की कसौटी पर खरा उतरनेवाला कलाकार केवल साहित्य का ही नहीं, समाज और राष्ट्र का भी गौरव है। दिनकरजी वैसे ही कलाकार हैं।

The SEARCHLIGHT (English Daily), Patna

He (the author) has given a very fine and lucid exposition of the CHHAYAVAD which has been baffling the critics for a long time. To us it appears that the genesis of that literary movement, has for the first time, been expounded in a brave and candid way by a poet who has himself been romantic in his moods.

The Indian Nation (English Daily), Patna.

Like his poetic works, in his essays too, Dinkar's style has the imperishable stamp of his uncommon individuality.

धूपछाँह

चित्रित आवरण : सुन्दर छपाई : हलकी-फुलकी, मौलिक और अनूदित सोलह आनन्ददायिनी कविताएँ : बच्चों को दीजिये : खुद पढ़िये : आनन्द एक-सा : मूल्य १।)

सामधेनी

हुंकार के बाद दिनकरजी की राष्ट्रीय कविताओं का सबसे अधिक सुन्दर संग्रह : "कलिंग-विजय," "दिल्ली और मास्को" तथा "जवानियों" और "आग की भोख" कविताएँ इसी संग्रह में उपलब्ध हैं। हुंकार की ही तरह इस पुस्तक की भी लूट मची हुई है। विशेष आकार-प्रकार के लगभग सौ पृष्ठ : पुस्तक सजिल्द : मूल्य २॥)

रसवन्ती

(तृतीय संस्करण)

वह पुस्तक, जो पहले-पहल प्रकाशित होने पर हिन्दी की सौ सर्वश्रेष्ठ पुस्तकों में गिनी गई। वह पुस्तक, जिसे कुछ लोग कवि की सर्वश्रेष्ठ कृति मानते हैं। नया, परिष्कृत संस्करण : डिमाइ साइज : मूल्य २॥)

हुंकार

(तृतीय संस्करण)

नाम लेना ही काफी है। पुस्तक हिन्दी-जगत में काफी विख्यात है। स्वतन्त्र राष्ट्रीय कविताओं का अनुपम संकलन।

नया, परिष्कृत संस्करण : डिमाइ साइज : मूल्य २॥)

द्वन्द्वगीत

(तृतीय संस्करण)

राग और वैराग्य के बीच द्वन्द्व : दार्शनिक चिन्तन और मादक कल्पना का मेल : हिन्दी की कुछ सर्वोत्तम रूबाइयों का संग्रह : मूल्य ॥)

रेणुका

(तृतीय संस्करण)

कवि की प्रथम काव्य-कृति : चित्रित, सुन्दर और सजिल्द : मूल्य ३)

